Printed by Chintaman Sakharam Deole, at the Bombay Vaibhav Press, Servants of India Society's Home, Sandhurst Road, Girgaum, Bombay

Published by Nathuram Premi, Honorary Secretary Manikchanda Dagamber-Jain grantha Mala, Hirabagh, Bombay.

ग्रन्थ-सूची ।

माणिकचन्द्र-ग्रन्थमाला।

इस ग्रन्थमालामें अबतक नीचे लिखे हुए ग्रन्थ छप चुके हैं:—

१ **लघीयस्त्रयादिसंग्रह।** भट्टाकलंककृत लघीयस्त्रय सटीक, और अनन्तकीर्तिकृत बृहत्सर्वज्ञसिद्धि तथा लघु सर्वज्ञसिद्धि। मू० ।≠)

२ **सागारधर्मामृत।** पं० आशाधरकृत मूल और स्वोपज्ञ भव्यकुमुदचन्द्रिका टीकासहित। मू० ।≋)

३ **विक्रान्तकौरवीय नाटक।** हस्तिमल्लकृत। मू० ।≠)

४ **पार्श्वनाथचरित।** वादिराजसूरिकृत। मू० ॥)

५ **मैथिलीकल्याण नाटक।** हस्तिमल्लकृत। मू० ।)

६ **आराधनासार।** देवसेनकृत मूल प्राकृत और रत्नकीर्तिदेवकृत संस्कृत टीकासहित। मू० ।)॥

७ **जिनदत्तचरित।** आचार्य गुणभद्रकृत। मू० ।)॥

८ **प्रद्युम्नचरित्र।** कविवर महासेनकृत। मू० ॥)

९ **चारित्रसार।** मन्त्रिवर चामुण्डरायकृत। मू० ।≠)

१० **प्रमाणनिर्णय।** वादिराजसूरिकृत। मू० ।-)

११ **आचारसार।** वीरनन्दि सिद्धान्तचक्रवर्तीकृत ।≠)

१२ **त्रिलोकसार।** आचार्य नेमिचन्द्रकृत मूल प्राकृत और आचार्य माधवचन्द्रकृत संस्कृतटीका। मू० १॥)

१३ **तत्त्वानुशासनादिसंग्रह।** मू० ॥≠)

१४ **अनगारधर्मामृत।** पं० आशाधरकृत मूल और संस्कृतटीकासहित। छप रहा है।

नोट— इस ग्रंथमालाके तमाम ग्रन्थ लागतके मूल्यपर बेचे जाते हैं। स्वर्गीय दानवीर सेठ माणिकचन्द्रजीके स्मारकमें यह ग्रन्थमाला निकाली जाती है। प्रत्येक धर्मात्माको इसकी सहायता करनी चाहिए। प्रायः सभी जैन-पुस्तकालयोंके यहांसे ये ग्रन्थ मिलेंगे।

संग्रहके ग्रन्थों और ग्रन्थकर्ताओंका
संक्षिप्त परिचय।

१ तत्त्वानुशासन। इस ग्रन्थके कर्ता आचार्य नागसेन हैं। ग्रन्थके अन्तमें वे अपने दीक्षागुरुका नाम विजयदेव और विद्यागुरुओंका नाम वीरचन्द्रदेव, शुभचन्द्रदेव तथा महेन्द्रदेव बतलाते हैं। अपने संघ या गणगच्छादिके विषयमें वे मौन हैं। अपने समयका भी वे उल्लेख नहीं करते हैं। परन्तु ऐसा मालूम होता है कि वे विक्रमकी १३ वीं शताब्दिसे पहले हुए हैं। क्योंकि पण्डितवर आशाधर 'इष्टोपदेशटीका' में—जो इसी संग्रहमें प्रकाशित की गई है—इस ग्रन्थके अनेक श्लोक 'उक्तं च' रूपमें उद्धृत करते हैं। उदाहरणके लिए इस संग्रहके पृष्ठ १७ में 'गुरूपदेशमासाद्य' आदि दो श्लोकोंको देखिए। ये तत्त्वानुशासनके १९६ और १९७ नम्बरके श्लोक हैं। और पं० आशाधरजीने—जैसा कि आगे बतलाया गया है—विक्रम संवत् १२८५ के पहले इष्टोपदेशकी टीका लिखी है। अतः तत्त्वानुशासनके कर्ता इससे भी पहले हुए हैं। नागसेनके अन्य किसी ग्रन्थसे हम परिचित नहीं।

तत्त्वानुशासन उच्चकोटिका और महत्त्वका ग्रन्थ है। मालूम नहीं, इसका यथेष्ट प्रचार क्यों नहीं हुआ। बम्बईके दिगम्बरजैनमन्दिरके पुस्तकालयमें एक बहुत ही जीर्ण प्राचीन पुस्तक है। उसी परसे इस ग्रन्थकी प्रेसकापी कराई गई है। दूसरी प्रति कहीं प्राप्त न हो सकी, अतएव उक्त एक ही प्रतिके आधारसे इसका संशोधन कराया गया है।

२ इष्टोपदेश। इस छोटेसे पर महत्त्वपूर्ण ग्रन्थके कर्ता आचार्य देवनन्दि या पूज्यपाद हैं। श्रीयुक्त पं० काशीनाथ बापूजी पाठक बी. ए. ने एक कनड़ी ग्रन्थके आधारसे प्रकट किया है कि गंगवंशीय दुर्विनीत नामका राजा पूज्यपादका शिष्य था और इस राजाने वि० सं० ५३५ से ५७० तक राज्य किया है। इसके सिवाय देवसेनसूरिने अपने 'दर्शनसार' नामक प्राकृतग्रन्थमें—जो वि० सं० ९९० में रचा गया है—लिखा है कि पूज्यपादके शिष्य वज्रनन्दिने वि० सं० ५२६ में द्राविडसंघकी स्थापना की थी। इन दोनों प्रमाणोंसे मालूम होता है कि देवनन्दि आचार्य विक्रमकी छठी शताब्दिमें हो गये हैं। उनके बनाये हुए सर्वार्थसिद्धिटीका, जैनेन्द्रव्याकरण और समाधितन्त्र ये तीन ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं।

इष्टोपदेशकी टीकाके कर्ता पण्डितवर आशाधर हैं। उन्होंने अनगार धर्मामृतकी भव्यकुमुदचन्द्रिका टीका वि० सं १३०० में समाप्त की थी, और यही शायद उनका अन्तिम ग्रन्थ था। अतः वे विक्रमकी तेरहवीं शताब्दिके विद्वान् हैं। उनके बनाये हुए बीसों ग्रन्थ हैं और उनमेंसे बहुतसे उपलब्ध भी हैं। वे अपने 'जिनयज्ञकल्प' नामक ग्रन्थमें जो वि० सं० १२८५ में बनकर समाप्त हुआ है-अपने उस समय तकके बनाये हुए जिन जिन ग्रन्थोंका उल्लेख करते हैं, उनमें इष्टोपदेश टीकाका भी नाम है। इससे मालूम होता है कि यह टीका १२८५ से पहले बनी है। यह टीका उन्होंने सागरचन्द्र मुनिके शिष्य विनयचन्द्रकी प्रेरणासे बनाई थी, ऐसा टीकाके अन्तिम श्लोकोंसे मालूम होता है। *

श्रीयुत प० पन्नालालजी बाकलीवालने जयपुरके किसी पुस्तकालयकी प्राचीन प्रतिसे इस ग्रन्थकी प्रेसकापी की थी। उसी परसे यह ग्रन्थ छपाया गया है।

३ नीतिसार और ४ श्रुतावतार। दिगम्बरजैनसम्प्रदायमें इन्द्रनन्दि नामके अनेक आचार्य और भट्टारक हो गये हैं। उनमेंसे एक इन्द्रनन्दि श्रुतावतारके और एक नीतिसारके कर्ता हैं। दोनोंके कर्ता एक नहीं मालूम होते। हमारी समझमें श्रुतावतारके कर्ता तो वे इन्द्रनन्दि हैं, जिनका उल्लेख आचार्य नेमिचन्द्रने गोम्मटसार कर्म-काण्डकी ३९६ वीं गाथामें गुरुरूपसे किया है —

> **वरइंदणंदिगुरुणो पासे सोऊण सयलसिद्धंतं।**
> **सिरिकणयणंदिगुरुणा सत्तट्ठाणं समुद्दिट्ठं ॥ ३९६ ॥**

लेखान्तरोंमें यह सिद्ध किया जा चुका है कि नेमिचन्द्रका समय विक्रमकी ११ वीं शताब्दि है। अतः श्रुतावतारके कर्ता लगभग इसी समयके आचार्य हैं। नीतिसारके कर्ता दूसरे इन्द्रनन्दि जान पड़ते हैं, जो नेमिचन्द्रसे पीछे हुए हैं; क्योंकि वे नीतिसारके ७० वें श्लोकमें आचार्य नेमिचन्द्रका उल्लेख करते हैं। नीतिसारकी रचनासे और मुनिधर्मसम्बन्धी उपदेशोंसे भी मालूम होता है कि यह ग्यारहवीं ही नहीं बल्कि १२ वीं शताब्दिके भी बादका बना हुआ ग्रन्थ होगा।

नीतिसारका संशोधन जयपुरकी एक प्रतिसे और एक बम्बईमें छपी हुई पुस्तकपरसे कराया गया है। श्रुतावतार शोलापुरकी जैन-युवकोंके द्वारा प्रकाशित मराठीटीकायुक्त पुस्तकपरसे छपाया गया है।

---

* पण्डित आशाधरके विषयमें विशेष जाननेके लिए हमारी लिखी हुई 'विद्वद्रत्नमाला' के द्वितीय लेखको पढ़िए।

५ मोक्षपंचाशिका । इसके कर्ताका नाम मालूम नहीं हुआ । श्रीयुत बाबू जुगलकिशोरजी मुख्तारके पास इसकी प्रति थी, उसी परसे यह छपाई गई है ।

६ अध्यात्मतरंगिणी । सोमदेव नामके कई आचार्य हो गये हैं । मालूम नहीं उनमेंसे यह किस सोमदेवकी बनाई हुई है । यदि यशस्तिलकके कर्ता ही इसके कर्ता हों, तो उनका समय विक्रमकी ११ वीं शताब्दि है । उन्होंने अपना यशस्तिलक शक संवत् ८८१ में बनाकर समाप्त किया है । इसकी एक प्रति हमें पं० इन्द्रलालजी साहित्यशास्त्रीके द्वारा जयपुरके किसी प्राचीन पुस्तकालयसे प्राप्त हुई थी । उसी परसे इसका सम्पादन हुआ है ।

७ पात्रकेसरि-स्तोत्र । इसका वास्तविक नाम बृहत्पञ्चनमस्कार स्तोत्र मालूम होता है । इसके कर्ता आचार्य पात्रकेसरी हैं, इस कारण इसे 'पात्रकेसरिस्तोत्र' भी कहते हैं । विद्यानन्दि और पात्रकेसरी एक ही हैं, यह हम अपने 'स्याद्वादविद्यापति विद्यानन्दि' नामक लेखमें (जैनहितैषी वर्ष ९ अंक ९) अच्छी तरह सिद्ध कर चुके हैं । विद्यानन्दि विक्रमकी ९ वीं शताब्दिमें हुए हैं, यह भी उक्त लेखमें प्रमाणित किया जा चुका है ।

इस ग्रन्थके साथ एक टीका भी प्रकाशित की जाती है, परन्तु टीकाकर्ता अपना नाम प्रकट नहीं करते हैं ।

स्वर्गीय दानवीर सेठ माणिकचन्द्रजीके पुस्तक-भाण्डारमें इसकी एक बहुत जीर्ण और प्राचीन प्रति थी, उसी परसे यह स्तोत्र छपाया गया है ।

यह स्तोत्र केवल स्तोत्र ही नहीं, किन्तु एक अपूर्व दार्शनिक ग्रन्थ है । इसमें जैनधर्मकी अनेक बातों पर एक विलक्षण ही प्रकाश डाला गया है ।

८ अध्यात्माष्टक । इसके कर्ता वे ही वादिराजसूरि जान पड़ते हैं जिन्होंने ...क संवत् ९४७ में पार्श्वनाथचरित नामक ग्रन्थ बनाया है और जो इसी ग्रन्थ-...लामें प्रकाशित हो चुका है ।

९ द्वात्रिंशतिका । इसके कर्ता अमितगतिसूरि हैं और ये शायद सुभाषित-...सन्दोह, धर्मपरीक्षा, अमितिगतिश्रावकाचार आदि ग्रन्थोंके कर्ता प्रसिद्ध अमित-...तिसे पृथक् नहीं हैं । सुभाषित-रत्नसन्दोह वि० सं० १०५० में समाप्त ...है, अतएव उनका समय विक्रमकी ग्यारहवीं शताब्दि निश्चित है । (विशेष ...नेके लिए देखो विद्वद्रत्नमालाका तीसरा लेख ।)

बंधस्य कार्यः संसारः सर्वदुःखप्रदोंगिनां ।
द्रव्यक्षेत्रादिभेदेन स चानेकविधः स्मृतः ॥ ७ ॥
स्युर्मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्राणि समासतः ।
बंधस्य हेतवोऽन्यस्तु त्रयाणामेव विस्तरः ॥ ८ ॥
अन्यथावस्थितेष्वर्थेष्वन्यथैव रुचिर्नृणां ।
दृष्टिमोहोदयान्मोहो मिथ्यादर्शनमुच्यते ॥ ९ ॥
ज्ञानावृत्युदयादर्थेष्वन्यथाधिगमो भ्रम. ।
अज्ञानं संशयश्चेति मिथ्याज्ञानमिह त्रिधा ॥ १० ॥
वृत्तिमोहोदयाज्जन्तोः कपायवशवर्त्तिनः ।
योगप्रवृत्तिरशुभा मिथ्याचारित्रमूचिरे ॥ ११ ॥
बंधहेतुषु सर्वेषु मोहश्च प्राक् प्रकीर्तितः ।
मिथ्याज्ञानं तु तस्यैव सचिवत्वमशिश्रियत् ॥ १२ ॥
ममाहंकारनामानौ सेनान्यौ तौ च तत्सुतौ ।
यदायत्तः सुदुर्भेदो मोहव्यूहः प्रवर्त्तते ॥ १३ ॥
शश्वदनात्मीयेषु स्वतनुप्रमुखेषु कर्मजनितेषु ।
आत्मीयाभिनिवेशो ममकारो मम यथा देहः ॥ १४ ॥
ये कर्मकृता भावाः परमार्थनयेन चात्मनो भिन्नाः ।
तत्रात्माभिनिवेशोऽहंकारोऽहं यथा नृपतिः ॥ १५ ॥
मिथ्याज्ञानान्वितान्मोहान्ममाहंकारसंभवः ।
इमकाभ्यां तु जीवस्य रागो द्वेपस्तु जायते ॥ १६ ॥
ताभ्यां पुनः कपायाः स्युर्नो कपायाश्च तन्मयाः ।
तेभ्यो योगाः प्रवर्तन्ते ततः प्राणिवधादयः ॥ १७ ॥
तेभ्यः कर्माणि बध्यन्ते ततः सुगतिदुर्गती ।
तत्र कायाः प्रजायन्ते सहजानीन्द्रियाणि च ॥ १८ ॥

तदर्थानिन्द्रियैर्गृह्णन् मुह्यति द्वेष्टि रज्यते ।
ततो बंधो भ्रमत्येव मोहव्यूहगतः पुमान् ॥ १९ ॥
तस्मादेतस्य मोहस्य मिथ्याज्ञानस्य च द्विषः ।
ममाहंकारयोश्चात्मन्विनाशाय कुरूद्यमं ॥ २० ॥
बंधहेतुषु मुख्येषु नश्यत्सु क्रमशस्तव ।
शेषोऽपि रागद्वेषादिर्बंधहेतुर्विनंक्ष्यति ॥ २१ ॥
ततस्त्वं बंधहेतूनां समस्तानां विनाशतः ।
बंधप्रणाशान्मुक्तः सन्न भ्रमिष्यसि संसृतौ ॥ २२ ॥
बंधहेतुविनाशस्तु मोक्षहेतुपरिग्रहात् ।
परस्परविरुद्धत्वाच्छीतोष्णस्पर्शवत्तयोः ॥ २३ ॥
स्यात्सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रत्रितयात्मकः ।
मुक्तिहेतुर्जिनोपज्ञं निर्जरासंवरक्रियाः ॥ २४ ॥
जीवादयो नवाप्यर्था ये यथा जिनभाषिताः ।
ते तथैवेति या श्रद्धा सा सम्यग्दर्शनं स्मृतं ॥ २५ ॥
प्रमाणनयनिक्षेपैर्यो याथात्म्येन निश्चयः ।
जीवादिषु पदार्थेषु सम्यग्ज्ञानं तदिष्यते ॥ २६ ॥
चेतसा वचसा तन्वा कृतानुमतकारितैः ।
पापक्रियाणां यस्त्यागः सच्चारित्रमुषन्ति तत् ॥ २७ ॥
मोक्षहेतुः पुनर्द्वेधा निश्चयव्यवहारतः ।
तत्राद्यः साध्यरूपः स्याद्द्वितीयस्तस्य साधनं ॥ २८
अभिन्नकर्तृकर्मादिविषयो निश्चयो नयः ।
व्यवहारनयो भिन्नकर्तृकर्मादिगोचरः ॥ २९ ॥
धर्मादिश्रद्धानं सम्यक्त्वं ज्ञानमधिगमस्तेषां ।
चरणं च तपसि चेष्टा व्यवहाराद् मुक्तिहेतुरयं॥ ३०

निश्चयनयेन भणितस्त्रिभिरेभिर्यः समाहितो भिक्षुः ।
नोपादत्ते किंचिन्न च मुञ्चति मोक्षहेतुरसौ ॥ ३१ ॥
यो मध्यस्थः पश्यति जानात्यात्मानमात्मनात्मन्यात्मा ।
दृगवगमचरणरूपस्स निश्चयान्मुक्तिहेतुरिति जिनोक्तिः ३२
स च मुक्ति[illegible] ध्याने यस्मादवाप्यते द्विविधोऽपि ।
तस्माद[illegible] सदाप्यपास्यालस्यम् ॥ ३३ ॥

[illegible]
[illegible] ॥ ३४ ॥
[illegible]
[illegible] ॥ ३५ ॥
[illegible]
[illegible] ॥ ३६
[illegible]
[illegible] ॥ ३७ ॥
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible] ॥ ३९ ॥
[illegible]

सम्यग्निर्णीतजीवादिध्येयवस्तुव्यवस्थितिः ।
आर्तरौद्रपरित्यागाल्लब्धचित्तप्रसत्तिकः ॥ ४३ ॥
मुक्तलोकद्वयापेक्षः सोढाऽशेषपरीषहः ।
अनुष्ठितक्रियायोगो ध्यानयोगे कृतोद्यमः ॥ ४४ ॥
महासत्त्वः परित्यक्तदुर्लेश्याऽशुभभावनः ।
इतीदृग्लक्षणो ध्याता धर्मध्यानस्य सम्मतः ॥ ४५ ॥
अप्रमत्तः प्रमत्तश्च सद्दृष्टिर्देशसंयतः ।
धर्मध्यानस्य चत्वारस्तत्त्वार्थे स्वामिनः स्मृताः ॥ ४६ ॥
मुख्योपचारभेदेन धर्मध्यानमिह द्विधा ।
अप्रमत्तेषु तन्मुख्यमितरेष्वौपचारिकं ॥ ४७ ॥
द्रव्यक्षेत्रादिसामग्री ध्यानोत्पत्तौ यतस्त्रिधा ।
ध्यातारस्त्रिविधास्तस्मात्तेषां ध्यानान्यपि त्रिधा ॥ ४८ ॥
सामग्रीतः प्रकृष्टाया ध्यातरि ध्यानमुत्तमं ।
स्याज्जघन्यं जघन्याया मध्यमायास्तु मध्यमं ॥ ४९ ॥
श्रुतेन विकलेनापि ध्याता स्यान्मनसा स्थिरः ।
प्रबुद्धधीरधःश्रेण्योर्धर्मध्यानस्य सुश्रुतः ॥ ५० ॥
सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः ।
तस्माद्यदव्यपेतं हि धर्म्यं तद्ध्यानमभ्यधुः ॥ ५१ ॥
आत्मनः परिणामो यो मोहक्षोभविवर्जितः ।
स च धर्मोऽनपेतं यत्तस्मात्तद्धर्म्यमित्यपि ॥ ५२ ॥
शून्यीभवदिदं विश्वं स्वरूपेण धृतं यतः ।
तस्माद्वस्तुस्वरूपं हि प्राहुर्धर्मं महर्षयः ॥ ५३ ॥
ततोऽनपेतं यज्जातं तद्धर्म्यं ध्यानमिष्यते ।
धर्मो हि वस्तु याथात्म्यमित्यार्षेऽप्यभिधानतः ॥ ५४ ॥

प्रमत्तसमसंयमादि स्यान्मुख्यं दशनया परं ।
तेनान्यथा यदुक्तान तद्धर्म्यमितीरितं ॥ ५५ ॥

एकाग्रचिन्तारोधो यश्च परिस्पन्दनवर्जितः ।
तद्ध्यानं निर्जराहेतुः संवरस्य च कारणं ॥ ५६ ॥

एकं प्रधानमित्याहुरेकाग्रमालम्बनं मुखं ।
चिन्ता स्मृतिर्निरोधस्तु तस्यास्तत्रैव वर्तनं ॥ ५७ ॥

द्रव्यपर्याययोर्मध्ये प्राधान्येन यदर्पितं ।
तत्र चिन्तानिरोधो यो ध्यानं तज्जगदुर्जिनाः ॥ ५८ ॥

एकाग्रग्रहणं चात्र वैयग्र्यविनिवृत्तये ।
व्यग्रं हि ज्ञानमेव स्याद्ध्यानमेकाग्रमुच्यते ॥ ५९ ॥

प्रत्याहृत्य यदा चिन्तां नानालम्बनवर्तिनीं ।
एकालम्बन एवैनां निरुणद्धि विशुद्धधीः ॥ ६० ॥

तदास्य योगिनो योगश्चिन्तैकाग्रनिरोधनं ।
प्रसंख्यानं समाधिः स्याद्ध्यानं स्वेष्टफलप्रदं ॥ ६१ ॥

अथवाङ्गति जानातीत्यग्रमात्मा निरुच्यते ।
तत्त्वेषु चाग्रगण्यत्वादसावग्रमिति स्मृतः ॥ ६२ ॥

द्रव्यार्थिकनयादेकः केवलो वा तथोदितः ।
अन्तःकरणवृत्तिस्तु चिन्ता रोधो नियन्त्रणा ॥ ६३ ॥

अभावो वा निरोधः स्यात्स च चिन्तान्तरव्ययः ।
एकचिन्तात्मको यद्वा स्वसंविच्चिन्तयोज्झितः ॥ ६४ ॥

तत्रात्मन्यसहाये यच्चिन्तायाः स्यान्निरोधनं ।
तद्ध्यानं तदभावो वा स्वसंवित्तिमयश्च सः ॥ ६५ ॥

श्रुतज्ञानमुदासीनं यथार्थमतिनिश्चलं ।
स्वर्गापवर्गफलदं ध्यानमान्तर्मुहूर्ततः ॥ ६६ ॥

ध्यायते येन तद्ध्यानं यो ध्यायति स एव वा ।
यत्र वा ध्यायते यद्वा ध्यातिर्वा ध्यानमिष्यते ॥ ६७ ॥

श्रुतज्ञानेन मनसा यतो ध्यायन्ति योगिनः ।
ततः स्थिरं मनो ध्यानं श्रुतज्ञानं च तात्त्विकं ॥ ६८ ॥

ज्ञानादर्थांतरादात्मा तस्माज्ज्ञानं न चान्यतः ।
एकं पूर्वापरीभूतं ज्ञानमात्मेति कीर्तितं ॥ ६९ ॥

ध्येयार्थालंबनं ध्यानं ध्यातुर्यस्मान्न भिद्यते ।
द्रव्यार्थिकनयात्तस्माद्ध्यातैव ध्यानमुच्यते ॥ ७० ॥

ध्यातरि ध्यायते ध्येयं यस्मान्निश्चयमाश्रितैः ।
तस्मादिदमपि ध्यानं कर्माधिकरणद्वयं ॥ ७१ ॥

इष्टे ध्येये स्थिरा बुद्धिर्या स्यात्संतानवर्तिनी ।
ज्ञानांतरापरामृष्टा सा ध्यातिर्ध्यानमीरिता ॥ ७२ ॥

एकं च कर्त्ता करणं कर्माधिकरणं फलं ।
ध्यानमेवेदमखिलं निरुक्तं निश्चयाश्रयात् ॥ ७३ ॥

स्वात्मानं स्वात्मनि स्वेन ध्यायेत्स्वस्मै स्वतो यतः ।
षट्कारकमयस्तस्माद्ध्यानमात्मैव निश्चयात् ॥ ७४ ॥

संगत्यागः कषायाणां निग्रहो व्रतधारणं ।
मनोऽक्षाणां जयश्चेति सामग्री ध्यानजन्मने ॥ ७५ ॥

इन्द्रियाणां प्रवृत्तौ च निवृत्तौ च मनः प्रभुः ।
मन एव जयेत्तस्माज्जिते तस्मिन् जितेन्द्रिय. ॥ ७६ ॥

ज्ञानवैराग्यरज्जुभ्यां नित्यमुत्पथवर्तिनः ।
जितचित्तेन शक्यन्ते धर्त्तुमिन्द्रियवाजिनः ॥ ७७ ॥

येनोपायेन शक्येत संनियन्तुं चलं मन. ।
स एवोपासनीयोऽत्र न चैव विरमेत्ततः ॥ ७८ ॥

ध्यायते येन तद्ध्यानं यो ध्यायति स एव वा ।
यत्र वा ध्यायते यद्वा ध्यातिर्वा ध्यानमिष्यते ॥ ६७ ॥

श्रुतज्ञानेन मनसा यतो ध्यायन्ति योगिनः ।
ततः स्थिरं मनो ध्यानं श्रुतज्ञानं च तात्त्विकं ॥ ६८ ॥

ज्ञानादर्थांतरादात्मा तस्माज्ज्ञानं न चान्यतः ।
एकं पूर्वापरीभूतं ज्ञानमात्मेति कीर्त्तितं ॥ ६९ ॥

ध्येयार्थालंबनं ध्यानं ध्यातुर्यस्मान्न भिद्यते ।
द्रव्यार्थिकनयात्तस्माद्ध्यातैव ध्यानमुच्यते ॥ ७० ॥

ध्यातरि ध्यायते ध्येयं यस्मान्निश्चयमाश्रितैः ।
तस्मादिदमपि ध्यानं कर्म्माधिकरणद्वयं ॥ ७१ ॥

इष्टे ध्येये स्थिरा बुद्धिर्या स्यात्संतानवर्तिनी ।
ज्ञानांतरापरामृष्टा सा ध्यातिर्ध्यानमीरिता ॥ ७२ ॥

एकं च कर्त्ता करणं कर्माधिकरणं फलं ।
ध्यानमेवेदमखिलं निरुक्तं निश्चयाश्रयात् ॥ ७३ ॥

स्वात्मानं स्वात्मनि स्वेन ध्यायेत्स्वस्मै स्वतो यतः ।
षट्कारकमयस्तस्माद्ध्यानमात्मैव निश्चयात् ॥ ७४ ॥

संगत्यागः कषायाणां निग्रहो व्रतधारणं ।
मनोऽक्षाणां जयश्चेति सामग्री ध्यानजन्मने ॥ ७५ ॥

इन्द्रियाणां प्रवृत्तौ च निवृत्तौ च मनः प्रभुः ।
मन एव जयेत्तस्माज्जिते तस्मिन् जितेन्द्रियः ॥ ७६ ॥

ज्ञानवैराग्यरज्जुभ्यां नित्यमुत्पथवर्तिनः ।
जितचित्तेन शक्यन्ते धर्त्तुमिन्द्रियवाजिनः ॥ ७७ ॥

येनोपायेन शक्येत सन्नियन्तुं चलं मनः ।
स एवोपासनीयोऽत्र न चैव विरमेत्ततः ॥ ७८ ॥

यस्तत्त्वमक्षमादिः स्याद्धर्मो दशतया परः ।
ततोऽनपेतं यद्ध्यानं तद्वा धर्म्यमितीरितम् ॥ ५५ ॥

एकाग्रचिंतारोधो यः परिस्पंदेन वर्जितः ।
तद्ध्यानं निर्जराहेतुः संवरस्य च कारणम् ॥ ५६ ॥

एकं प्रधानमित्याहुरग्रमालंबनं मुखम् ।
चिंतां स्मृतिं निरोधं तु तस्यास्तत्रैव वर्तनम् ॥ ५७ ॥

द्रव्यपर्याययोर्मध्ये प्राधान्येन यदर्पितम् ।
तत्र चिंतानिरोधो यस्तद्ध्यानं बभणुर्जिनाः ॥ ५८ ॥

एकाग्रग्रहणं चात्र वैयग्र्यविनिवृत्तये ।
व्यग्रं हि ज्ञानमेव स्याद्ध्यानमेकाग्रमुच्यते ॥ ५९ ॥

प्रत्याहृत्य यदा चिंतां नानालंबनवर्तिनीम् ।
एकालंबन एवैनां निरुणद्धि विशुद्धधीः ॥ ६० ॥

तदास्य योगिनो योगश्चिंतैकाग्रनिरोधनम् ।
प्रसंख्यानं समाधिः स्याद्ध्यानं स्वेष्टफलप्रदम् ॥ ६१ ॥

अथवांगति जानातीत्यग्रमात्मा निरुक्तितः ।
तत्त्वेषु चाग्रगण्यत्वादसावग्रमिति स्मृतः ॥ ६२ ॥

द्रव्यार्थिकनयादेकः केवलो वा तथोदितः ।
अंतःकरणवृत्तिस्तु चिंतारोधो नियंत्रणा ॥ ६३ ॥

अभावो वा निरोधः स्यात्स च चिंतांतरव्ययः ।
एकचिंतात्मको यद्वा स्वसंविच्चिंतयोज्झितः ॥ ६४ ॥

तत्रात्मन्यसहाये यच्चिंतायाः स्यान्निरोधनम् ।
तद्ध्यानं तदभावो वा स्वसंवित्तिमयश्च सः ॥ ६५ ॥

श्रुतज्ञानमुदासीनं यथार्थमतिनिश्चलम् ।
स्वर्गापवर्गफलदं ध्यानमांतर्मुहूर्ततः ॥ ६६ ॥

ध्यायते येन तद्ध्यानं यो ध्यायति स एव वा ।
यत्र वा ध्यायते यद्वा ध्यातिर्वा ध्यानमिष्यते ॥ ६७ ॥

श्रुतज्ञानेन मनसा यतो ध्यायन्ति योगिनः ।
ततः स्थिरं मनो ध्यानं श्रुतज्ञानं च तात्त्विकं ॥ ६८ ॥

ज्ञानादर्थान्तरादात्मा तस्माज्ज्ञानं न चान्यतः ।
एकं पूर्वापरीभूतं ज्ञानमात्मेति कीर्त्तितं ॥ ६९ ॥

ध्येयार्थालंबनं ध्यानं ध्यातुर्यस्मान्न भिद्यते ।
द्रव्यार्थिकनयात्तस्माद्ध्यातैव ध्यानमुच्यते ॥ ७० ॥

ध्यातरि ध्यायते ध्येयं यस्मान्निश्चयमाश्रितैः ।
तस्मादिदमपि ध्यानं कर्म्माधिकरणद्वयं ॥ ७१ ॥

इष्टे ध्येये स्थिरा बुद्धिर्या स्यात्संतानवर्त्तिनी ।
ज्ञानांतरापरामृष्टा सा ध्यातिर्ध्यानमीरिता ॥ ७२ ॥

एकं च कर्त्ता करणं कर्माधिकरणं फलं ।
ध्यानमेवेदमखिलं निरुक्तं निश्चयाश्रयात् ॥ ७३ ॥

स्वात्मानं स्वात्मनि स्वेन ध्यायेत्स्वस्मै स्वतो यतः ।
षट्कारकमयस्तस्माद्ध्यानमात्मैव निश्चयात् ॥ ७४ ॥

संगत्यागः कषायाणां निग्रहो व्रतधारणं ।
मनोऽक्षाणां जयश्चेति सामग्री ध्यानजन्मने ॥ ७५ ॥

इन्द्रियाणां प्रवृत्तौ च निवृत्तौ च मनः प्रभुः ।
मन एव जयेत्तस्माज्जिते तस्मिन् जितेन्द्रियः ॥ ७६ ॥

ज्ञानवैराग्यरज्जुभ्यां नित्यमुत्पथवर्तिनः ।
जितचित्तेन शक्यन्ते धर्त्तुमिन्द्रियवाजिनः ॥ ७७ ॥

येनोपायेन शक्येत सन्नियन्तुं चलं मनः ।
स एवोपासनीयोऽत्र न चैव विरमेत्ततः ॥ ७८ ॥

यस्तूत्तमक्षमादिः स्याद्धर्मो दशतया परः ।
ततोऽनपेतं यद्ध्यानं तद्वा धर्म्यमितीरितं ॥ ५५ ॥

एकाग्रचिंतारोधो यः परिस्पंदेन वर्जितः ।
तद्ध्यानं निर्जराहेतुः संवरस्य च कारणं ॥ ५६ ॥

एकं प्रधानमित्याहुरग्रमालंबनं मुखं ।
चिंतां स्मृतिं निरोधं तु तस्यास्तत्रैव वर्त्तनं ॥ ५७ ॥

द्रव्यपर्याययोर्मध्ये प्राधान्येन यदर्पितं ।
तत्र चिंतानिरोधो यस्तद्ध्यानं बभणुर्जिनाः ॥ ५८ ॥

एकाग्रग्रहणं चात्र वैयग्र्यविनिवृत्तये ।
व्यग्रं ह्यज्ञानमेव स्याद्ध्यानमेकाग्रमुच्यते ॥ ५९ ॥

प्रत्याहृत्य यदा चिंतां नानालंबनवर्तिनीं ।
एकालंबन एवैनां निरुणद्धि विशुद्धधीः ॥ ६० ॥

तदास्य योगिनो योगश्चिंतैकाग्रनिरोधनं ।
प्रसंख्यानं समाधिः स्याद्ध्यानं स्वेष्टफलप्रदं ॥ ६१ ॥

अथवांगति जानातीत्यग्रमात्मा निरुक्तितः ।
तत्त्वेषु चाग्रगण्यत्वादसावग्रमिति स्मृतः ॥ ६२ ॥

द्रव्यार्थिकनयादेकः केवलो वा तथोदितः ।
अंतःकरणवृत्तिस्तु चिंतारोधो नियंत्रणा ॥ ६३ ॥

अभावो वा निरोधः स्यात्स च चिंतांतरव्ययः ।
एकचिंतात्मको यद्वा स्वसंविच्चिंतयोज्झितः ॥ ६४ ॥

तत्रात्मन्यसहाये यच्चिंतायाः स्यान्निरोधनं ।
तद्ध्यानं तदभावो वा स्वसंवित्तिमयश्च सः ॥ ६५ ॥

श्रुतज्ञानमुदासीनं यथार्थमतिनिश्चलं ।
स्वर्गापवर्गफलदं ध्यानमांतर्मुहूर्ततः ॥ ६६ ॥

अन्यत्र वा क्वचिद्देशे प्रशस्ते प्रासुके समे।
चेतनाचेतनाशेषध्यानविघ्नविवर्जिते ॥ ९१ ।

भूतले वा शिलापट्टे सुखासीनः स्थितोऽथवा।
सममृज्वायतं गात्रं निःकंपावयवं दधत् ॥ ९२ ॥

नासाग्रन्यस्तनिष्पंदलोचनो मंदमुच्छ्वसन्।
द्वात्रिंशद्दोषनिर्मुक्तकायोत्सर्गव्यवस्थितः ॥ ९३ ॥

प्रत्याहृत्याक्षलुंटाकांस्तदर्थेभ्यः प्रयत्नतः।
चिंतां चाकृष्य सर्वेभ्यो निरुध्य ध्येयवस्तुनि ॥ ९४ ॥

निरस्तनिद्रो निर्भीतिर्निरालस्यो निरंतरं।
स्वरूपं पररूपं वा ध्यायेदंतर्विशुद्धये ॥ ९५ ॥

निश्चयाद् व्यवहाराच्च ध्यानं द्विविधमागमे।
स्वरूपालंबनं पूर्वं परालंबनमुत्तरं ॥ ९६ ॥

अभिन्नमाद्यमन्यत्तु भिन्नं तत्तावदुच्यते।
भिन्ने हि विहिताभ्यासोऽभिन्नं ध्यायत्यनाकुलः ॥ ९७ ॥

आज्ञापायौ विपाकं च संस्थानं भुवनस्य च।
यथागममविक्षिप्तचेतसा चिंतयेन्मुनिः ॥ ९८ ॥

नाम च स्थापनं द्रव्यं भावश्चेति चतुर्विधं।
समस्तं व्यस्तमप्येतद्ध्येयमध्यात्मवेदिभिः ॥ ९९ ॥

वाच्यस्य वाचकं नाम प्रतिमा स्थापना मता।
गुणपर्ययवद्द्रव्यं भावः स्याद्गुणपर्ययी ॥ १०० ॥

आदौ मध्येऽवसाने यद्वाङ्मयं व्याप्य तिष्ठति।
हृदि ज्योतिष्मदुद्गच्छन्नामध्येयं तदर्हतां ॥ १०१

हृत्पंकजे चतुःपत्रे ज्योतिष्मंति प्रदक्षिणं।
असिआउसाक्षराणि ध्येयानि परमेष्ठिनां ॥ १०२ ।

संचितयन्ननुप्रेक्षाः स्वाध्याये नित्यमुद्यतः।
जयत्येव मनः साधुरिन्द्रियार्थपराङ्मुखः ॥ ७९ ॥

स्वाध्यायःपरमस्तावज्जपः पंचनमस्कृतेः।
पठनं वा जिनेन्द्रोक्तशास्त्रस्यैकाग्रचेतसा ॥ ८० ॥

स्वाध्यायाद्ध्यानमध्यास्तां ध्यानात्स्वाध्यायमामनेत्।
ध्यानस्वाध्यायसंपत्त्या परमात्मा प्रकाशते ॥ ८१ ॥

येऽत्राहुर्न हि कालोऽयं ध्यानस्य ध्यायतामिति।
तेऽर्हन्मतानभिज्ञत्वं ख्यापयंत्यात्मनः स्वयं ॥ ८२ ॥

अत्रेदानीं निषेधंति शुक्लध्यानं जिनोत्तमा।
धर्मध्यानं पुनः प्राहुः श्रेणीभ्यां प्राग्विवर्त्तिनां ॥ ८३ ॥

यत्पुनर्वज्रकायस्य ध्यानमित्यागमे वचः।
श्रेण्यो ध्यानं प्रतीत्योक्तं तन्नाधस्तान्निषेधकं ॥ ८४ ॥

ध्यातारश्चेन्न सन्त्यद्य श्रुतसागरपारगाः।
तत्किमल्पश्रुतैरन्यैर्न ध्यातव्यं स्वशक्तितः ॥ ८५ ॥

चरितारो न चेत्सन्ति यथाख्यातस्य संप्रति।
तत्किमन्ये यथाशक्तिमाचरन्तु तपस्विनः ॥ ८६ ॥

सम्यग्गुरूपदेशेन समभ्यस्यन्ननारतं।
धारणासौष्ठवाद्ध्यानं प्रत्ययानपि पश्यति ॥ ८७ ॥

यथाऽभ्यासेन शास्त्राणि स्थिराणि स्युर्महान्त्यपि।
तथा ध्यानमपि स्थैर्यं लभतेऽभ्यासवर्त्तिनां ॥ ८८ ॥

यथोक्तलक्षणो ध्याता ध्यातुमुत्सहते यदा।
तदैव परिकर्मादौ कृत्वा ध्यायतु धीरधीः ॥ ८९ ॥

शून्यागारे गुहायां वा दिवा वा यदि वा निशि।
स्त्रीपशुक्लीबजीवानां क्षुद्राणामप्यगोचरे ॥ ९० ॥

अन्यत्र वा क्वचिद्देशे प्रशस्ते प्रासुके समे।
चेतनाचेतनाशेषध्यानविघ्नविवर्जिते ॥ ९१ ॥

भूतले वा शिलापट्टे सुखासीनः स्थितोऽथवा ।
सममृज्वायतं गात्रं निःकंपावयवं दधत् ॥ ९२ ॥

नासाग्रन्यस्तनिष्पंदलोचनो मंदमुच्छ्वसन् ।
द्वात्रिंशद्दोषनिर्मुक्तकायोत्सर्गव्यवस्थितः ॥ ९३ ॥

प्रत्याहृत्याक्षलुंटाकांस्तदर्थेभ्यः प्रयत्नतः ।
चिंतां चाकृष्य सर्वेभ्यो निरुध्य ध्येयवस्तुनि ॥ ९४ ॥

निरस्तनिद्रो निर्भीतिर्निरालस्यो निरंतरं ।
स्वरूपं पररूपं वा ध्यायेदंतर्विशुद्धये ॥ ९५ ॥

निश्चयाद् व्यवहाराच्च ध्यानं द्विविधमागमे ।
स्वरूपालंबनं पूर्वं परालंबनमुत्तरं ॥ ९६ ॥

अभिन्नमाद्यमन्यत्तु भिन्नं तत्तावदुच्यते ।
भिन्ने हि विहिताभ्यासोऽभिन्नं ध्यायत्यनाकुलः ॥ ९७ ॥

आज्ञापायौ विपाकं च संस्थानं भुवनस्य च ।
यथागममविक्षिप्तचेतसा चिंतयेन्मुनिः ॥ ९८ ॥

नाम च स्थापनं द्रव्यं भावश्चेति चतुर्विधं ।
समस्तं व्यस्तमप्येतद्ध्येयमध्यात्मवेदिभिः ॥ ९९ ॥

वाच्यस्य वाचकं नाम प्रतिमा स्थापना मता ।
गुणपर्ययवद्द्रव्यं भावः स्याद्गुणपर्ययौ ॥ १०० ॥

आदौ मध्येऽवसाने यद्वाङ्मयं व्याप्य तिष्ठति ।
हृदि ज्योतिष्मदुद्गच्छन्नामध्येयं तदर्हतां ॥ १०१

हृत्पंकजे चतुःपत्रे ज्योतिष्मंति प्रदक्षिणं ।
असिआउसाक्षराणि ध्येयानि परमेष्ठिनां ॥ १०२ ॥

ध्यायेदइउएओ च तद्वन्मंत्रानुदर्चिषः ।
मत्यादिज्ञाननामानि मत्यादिज्ञानसिद्धये ॥ १०३ ॥

सप्ताक्षरं महामंत्रं मुखरंध्रेषु सप्तसु ।
गुरूपदेशतो ध्यायेदिच्छन् दूरश्रवादिकं ॥ १०४ ॥

हृदयेऽष्टदलं पद्मं वर्गैः पूरितमष्टभिः ।
दलेषु कर्णिकायां च नाम्नाधिष्ठितमर्हतां ॥ १०५ ॥

गणभृद्वलयोपेतं त्रिःपरीतं च मायया ।
क्षोणीमंडलमध्यस्थं ध्यायेदभ्यर्चयेच्च तत् ॥ १०६ ॥

अकारादिहकारान्ताः मंत्राः परमशक्तयः ।
स्वमंडलगता ध्येया लोकद्वयफलप्रदाः ॥ १०७ ॥

इत्यादीन्मंत्रिणो मंत्रानर्हन्मंत्रपुरस्सरान् ।
ध्यायन्ति यदिह स्पष्टं नामध्येयमवैहि तत् ॥ १०८ ॥

जिनेन्द्रप्रतिबिंबानि कृत्रिमाण्यकृतानि च ।
यथोक्तान्यागमे तानि तथा ध्यायेदशंकितं ॥ १०९ ॥

यथैकमेकदा द्रव्यमुत्पित्सु स्थास्नु नश्वरं ।
तथैव सर्वदा सर्वमिति तत्त्वं विचिन्तयेत् ॥ ११० ॥

चेतनोऽचेतनो वार्थो यो यथैव व्यवस्थितः ।
तथैव तस्य यो भावो याथात्म्यं तत्त्वमुच्यते ॥ १११ ॥

अनादिनिधने द्रव्ये स्वपर्यायाः प्रतिक्षणं ।
उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति जलकल्लोलवज्जले ॥ ११२ ॥

यद्विवृत्तं यथापूर्वं यच्च पश्चाद्विवर्त्स्यति ।
विवर्तते यदत्राद्य तदेवेदमिदं च तत् ॥ ११३ ॥

---

१ मुद्रिते [illegible] । [illegible]

सहवृत्ता गुणास्तत्र पर्यायाः क्रमवर्तिनः ।
स्यादेतदात्मकं द्रव्यमेते च स्युस्तदात्मकाः ॥ ११४ ॥
एवंविधमिदं वस्तु स्थित्युत्पत्तिव्ययात्मकं ।
प्रतिक्षणमनाद्यंतं सर्वं ध्येयं यथास्थितं ॥ ११५ ॥
अर्थव्यंजनपर्याया मूर्त्तामूर्त्ता गुणाश्च ये ।
यत्र द्रव्ये यथावस्थास्तांश्च तत्र तथा स्मरेत् ॥ ११६ ॥
पुरुषः पुद्गलः कालो धर्माधर्मौ तथांबरं ।
षड्विधं द्रव्यमाख्यातं तत्र ध्येयतमः पुमान् ॥ ११७ ॥
सति हि ज्ञातरि ज्ञेयं ध्येयतां प्रतिपद्यते ।
ततो ज्ञानस्वरूपोऽयमात्मा ध्येयतमः स्मृतः ॥ ११८ ॥
तत्रापि तत्त्वतः पंच ध्यातव्याः परमेष्ठिनः ।
चत्वारः सकलास्तेषु सिद्धः स्वामीति निष्कलः ॥ ११९ ॥
अनंतदर्शनज्ञानसम्यक्त्वादिगुणात्मकं ।
स्वोपात्तानंतरत्यक्तशरीराकारधारिणः ॥ १२० ॥
साकारं च निराकारममूर्त्तमजरामरं ।
जिनबिंबमिव स्वच्छस्फटिकप्रतिबिंबितं ॥ १२१ ॥
लोकाग्रशिखरारूढमुदूढसुखसंपदं ।
सिद्धात्मानं निराबाधं ध्यायेन्निर्धूतकल्मषं ॥ १२२ ॥
तथाद्यमाप्तमाप्तानां देवानामधिदैवतं ।
प्रक्षीणघातिकर्माणं प्राप्तानंतचतुष्टयं ॥ १२३ ॥
दूरमुत्सृज्य भूभागं नभस्तलमधिष्ठितं ।
परमौदारिकस्वांगप्रभाभर्त्सितभास्करं ॥ १२४ ॥

---

१ मूर्तो व्यंजनपर्यायो वाग्गम्योऽनश्वरस्थिर । सूक्ष्मः प्रतिक्षणध्वंसी पर्यायश्चार्थ-संज्ञकः । २ उद्धृतं ।

चतुस्त्रिंशन्महाश्चर्यैः प्रातिहार्यैश्च भूषितं ।
मुनितिर्यङ्नरस्वार्गिसभाभिः सन्निषेवितं ॥ १२५ ॥
जन्माभिषेकप्रमुखप्राप्तपूजातिशायिनं ।
केवलज्ञाननिर्णीतविश्वतत्त्वोपदेशिनं ॥ १२६ ॥
प्रभास्वल्लक्षणाकीर्णसंपूर्णोदग्रविग्रहं ।
आकाशस्फटिकांतस्थज्वलज्ज्वालानलोज्वलं ॥ १२७ ॥
तेजसामुत्तमं तेजो ज्योतिषां ज्योतिरुत्तमं ।
परमात्मानमर्हंतं ध्यायेन्निःश्रेयसाप्तये ॥ १२८ ॥
वीतरागोऽप्ययं देवो ध्यायमानो मुमुक्षुभिः।
स्वर्गापवर्गफलदः शक्तिस्तस्य हि तादृशी ॥ १२९ ॥
सम्यग्ज्ञानादिसंपन्नाः प्राप्तसप्तमहर्धयः ।
तथोक्तलक्षणाः ध्येया सूर्युपाध्यायसाधवः ॥ १३० ॥
एवं नामादिभेदेन ध्येयमुक्तं चतुर्विधं ।
अथवा द्रव्यभावाभ्यां द्विधैव तदवस्थितं ॥ १३१ ॥
द्रव्यध्येयं बहिर्वस्तु चेतनाचेतनात्मकं ।
भावध्येयं पुनर्ध्येयसंनिभध्यानपर्ययः ॥ १३२ ॥
ध्याने हि बिभ्रते स्थैर्यं ध्येयरूपं परिस्फुटं ।
आलेखितमिवाभाति ध्येयस्यासंनिधावपि ॥ १३३ ॥
धातुपिंडे स्थितश्चैवं ध्येयोऽर्थो ध्यायते यतः ।
ध्येयपिंडस्थमित्याहुरत एव च केवलं ॥ १३४ ॥
यदा ध्यानबलाद्ध्याता शून्यीकृत्य स्वविग्रहं ।
ध्येयस्वरूपाविष्टत्वात्तादृक् संपद्यते स्वयं ॥ १३५ ॥
तदा तथाविधध्यानसंवित्तिध्वस्तकल्पनः ।
स एव परमात्मा स्याद्वैनतेयश्च मन्मथः ॥ १३६ ॥

सोऽयं समरसीभावस्तदेकीकरणं स्मृतं ।
एतदेव समाधिः स्याल्लोकद्वयफलप्रदः ॥ १३७ ॥

किमत्र बहुनोक्तेन ज्ञात्वा श्रद्धाय तत्त्वतः ।
ध्येयं समस्तमप्येतन्माध्यस्थ्यं तत्र बिभ्रता ॥ १३८ ॥

माध्यस्थ्यं समतोपेक्षा वैराग्यं साम्यमस्पृहा ।
वैतृष्ण्यं परमः शान्तिरित्येकोऽर्थोऽभिधीयते ॥ १३९ ॥

संक्षेपेण यदत्रोक्तं विस्तरात्परमागमे ।
तत्सर्वं ध्यानमेव स्याद्ध्यातेषु परमेष्ठिषु ॥ १४० ॥

व्यवहारनयादेवं ध्यानमुक्तं पराश्रयं ।
निश्चयादधुना स्वात्मालंबनं तन्निरूप्यते ॥ १४१ ॥

ब्रुवता ध्यानशब्दार्थं यद्रहस्यमवादि नः।
तथापि स्पष्टमाख्यातुं पुनरप्यभिधीयते ॥ १४२ ॥

दिधासुः स्वं परं ज्ञात्वा श्रद्धाय च यथास्थिति ।
विहायान्यदनर्थित्वात् स्वमेवावैतु पश्यतु ॥ १४३ ॥

पूर्वं श्रुतेन संस्कारं स्वात्मन्यारोपयेत्ततः ।
तत्रैकाग्र्यं समासाद्य न किंचिदपि चिंतयेत् ॥ १४४ ॥

यस्तु नालंबते श्रौतीं भावनां कल्पनाभयात् ।
सोऽवश्यं मुह्यति स्वस्मिन्बहिश्चिंतां बिभर्ति च ॥ १४५ ॥

तस्मान्मोहप्रहाणाय बहिश्चिंतानिवृत्तये ।
स्वात्मानं भावयेत्पूर्वमैकाग्र्यस्य च सिद्धये ॥ १४६ ॥

तथा हि चेतनोऽसंख्यप्रदेशो मूर्तिवर्जितः ।
शुद्धात्मा सिद्धरूपोऽस्मि ज्ञानदर्शनलक्षणः ॥ १४७ ॥

नान्योऽस्मि नाहमस्त्यन्यो नान्यस्याहं न मे परः ।
अन्यस्त्वन्योऽहमेवाहमन्योऽन्यस्याहमेव मे ॥ १४८ ॥

अन्यच्छरीरमन्योऽहं चिदहं तदचेतनं ।
अनेकमेतदेकोऽहं क्षयीदमहमक्षयः ॥ १४९॥

अचेतनं भवे नाहं नाहमप्यस्त्यचेतनं।
ज्ञानात्माहं न मे कश्चिन्नाहमन्यस्य कस्यचित् ॥ १५० ॥

योऽत्र स्वस्वामिसंबंधो ममाभूद्वपुषा सह ।
यश्चैकत्वभ्रमस्सोऽपि परस्मान्न स्वरूपतः॥ १५१ ॥

जीवादिद्रव्ययाथात्म्यज्ञातात्मकमिहात्मना ।
पश्यन्नात्मन्यथात्मानमुदासीनोऽस्मि वस्तुषु ॥ १५२ ॥

सद्द्रव्यमस्मि चिदहं ज्ञाता द्रष्टा सदाप्युदासीनः ।
स्वोपात्तदेहमात्रस्ततः पृथग्गगनवदमूर्तः ॥ १५३ ॥

सन्नेवाहं सदाप्यस्मि स्वरूपादिचतुष्टयात् ।
असन्नेवास्मि चात्यंतं पररूपाद्यपेक्षया ॥ १५४ ॥

यन्न चेतयते किंचिन्नाचेतयत किंचन ।
यच्चेतयिष्यते नैव तच्छरीरादि नास्म्यहं ॥ १५५ ॥

यदचेतत्तथा पूर्वं चेतिष्यति यदन्यथा ।
चेतनीयं यदत्राद्य तच्चिद्द्रव्यं समस्म्यहं ॥ १५६ ॥

स्वयमिष्टं न च द्विष्टं किन्तूपेक्ष्यमिदं जगत् ।
नोऽहमेष्टा न च द्वेष्टा किन्तु स्वयमुपेक्षिता ॥ १५७ ॥

मत्तः कायादयो भिन्नास्तेभ्योऽहमपि तत्त्वतः ।
नाहमेषां किमप्यस्मि ममाप्येते न किंचन ॥ १५८ ॥

एवं सम्यग्विनिश्चित्य स्वात्मानं भिन्नमन्यतः ।
विधाय तन्मयं भावं न किंचिदपि चिंतये ॥ १५९ ॥

चिंताभावो न जैनानां तुच्छो मिथ्यादृशामिव ।
दृग्बोधसाम्यरूपस्य यत्स्वसंवेदनं हि सः ॥ १६० ॥

वेद्यत्वं वेदकत्वं च यत्स्वस्य स्वेन योगिनः ।
तत्स्वसंवेदनं प्राहुरात्मनोऽनुभवं दृशं ॥ १६१ ॥

स्वपरज्ञप्तिरूपत्वान्न तस्य कारणान्तरं ।
ततश्चिन्तां परित्यज्य स्वसंवित्त्यैव वेद्यतां ॥ १६२ ॥

दृग्बोधसाम्यरूपत्वाज्जानन् पश्यन्नुदासिता ।
चित्सामान्यविशेषात्मा स्वात्मनैवानुभूयतां ॥ १६३ ॥

कर्मजेभ्यः समस्तेभ्यो भावेभ्यो भिन्नमन्वहं ।
ज्ञस्वभावमुदासीनं पश्येदात्मानमात्मना ॥ १६४ ॥

यन्मिथ्याभिनिवेशेन मिथ्याज्ञानेन चोज्झितं ।
तन्मध्यस्थं निजं रूपं स्वस्मिन्संवेद्यतां स्वयं ॥ १६५ ॥

न हीन्द्रियधिया दृश्यं रूपादिरहितत्वतः ।
वितर्कास्तन्न पश्यन्ति ते ह्यविस्पष्टतर्कणाः ॥ १६६ ॥

उभयस्मिन्निरुद्धे तु स्याद्विस्पष्टमतीन्द्रियं ।
स्वसंवेद्यं हि तद्रूपं स्वसंवित्त्यैव दृश्यतां ॥ १६७ ॥

वपुषोऽप्रतिभासेऽपि स्वातंत्र्येण चकासते ।
चेतना ज्ञानरूपेयं स्वयं दृश्यत एव हि ॥ १६८ ॥

समाधिस्थेन यद्यात्मा बोधात्मा नानुभूयते ।
तदा न तस्य तद्ध्यानं मूर्छावान्मोह एव सः ॥ १६९ ॥

तदेवानुभवंश्चायमेकाग्र्यं परमृच्छति ।
तथात्माधीनमानंदमेति वाचामगोचरं ॥ १७० ॥

यथा निर्वातदेशस्थः प्रदीपो न प्रकंपते ।
तथा स्वरूपनिष्ठोऽयं योगी नैकाग्र्यमुज्झति ॥ १७१ ॥

तदा च परमैकाग्र्याद्बहिरर्थेषु सत्स्वपि ।
अन्यन्न किंचनाभाति स्वमेवात्मनि पश्यतः ॥ १७२ ॥

अत एवान्यशून्योऽपि नात्मा शून्यः स्वरूपतः ।
शून्याशून्यस्वभावोऽयमात्मनैवोपलभ्यते ॥ १७३ ॥
ततश्च यज्जगुर्मुक्त्यै नैरात्म्याद्वैतदर्शनं ।
तदेतदेव यत्सम्यगन्यापोहात्मदर्शनं ॥ १७४ ॥
परस्परपरावृत्ताः सर्वे भावाः कथंचन ।
नैरात्म्यं जगतो यद्वन्नैर्जगत्यं तथात्मनः ॥ १७५ ॥
अन्यात्माभावो नैरात्म्यं स्वात्मसत्तात्मकश्च सः ।
स्वात्मदर्शनमेवातः सम्यग्नैरात्म्यदर्शनं ॥ १७६ ॥
आत्मानमन्यसंपृक्तं पश्यन् द्वैतं प्रपश्यति ।
पश्यन् विभक्तमन्येभ्यः पश्यत्यात्मानमद्वयं ॥ १७७ ॥
पश्यन्नात्मानमैकाग्र्यात्क्षपयत्यर्जितान्मलान् ।
निरस्ताहंममीभावः संवृणोत्यप्यनागतान् ॥ १७८ ॥
यथा यथा समाध्याता लप्स्यते स्वात्मनि स्थितिं ।
समाधिप्रत्ययाश्चास्य स्फुटिष्यन्ति तथा तथा ॥ १७९ ॥
एतद्द्वयोरपि ध्येयं ध्यानयोर्धर्म्यशुक्लयोः ।
विशुद्धिस्वामिभेदात् तयोर्भेदोऽवधार्यतां ॥ १८० ॥
इदं हि दुःशकं ध्यातुं सूक्ष्मज्ञानावलंबनात् ।
बोध्यमानमपि प्राज्ञैर्न च द्रागवलक्ष्यते ॥ १८१ ॥
तस्माल्लक्ष्यं च शक्यं च दृष्टादृष्टफलं च यत् ।
स्थूलं वितर्कमालम्ब्य तदभ्यस्यन्तु धीधनाः ॥ १८२ ॥
आकारं मरुतापूर्य कुम्भित्वा रेफवह्निना ।
दग्ध्वा स्ववपुषा कर्म स्वतो भस्म विरेच्य च ॥ १८३ ॥
ह्मंत्रो नभसि ध्येयः क्षरन्नमृतमात्मनि ।
तेनान्यत्तद्विनिर्माय पीयूषमयमुज्ज्वलं ॥ १८४ ॥

तथाद्यौ पिंडसिद्ध्यर्थं निर्मलीकरणाय च ।
मारुतीं तैजसीमाप्यां विदध्याद्धारणां क्रमात् ॥ १८५ ॥
ततः पंचनमस्कारैः पंचपिंडाक्षरान्वितैः ।
पंचस्थानेषु विन्यस्तैर्विधाय सकलां क्रियाम् ॥ १८६ ॥
पश्चादात्मानमर्हन्तं ध्यायेन्निर्दिष्टलक्षणं ।
सिद्धं वा ध्वस्तकर्माणममूर्तं ज्ञानभास्वरं ॥ १८७ ॥
नन्वनर्हन्तमात्मानमर्हन्तं ध्यायतां सतां ।
अतस्मिंस्तद्ग्रहो भ्रान्तिर्भवतां भवतीति चेत् ॥ १८८ ॥
तन्न चोद्यं यतोऽस्माभिर्भावार्हन्नयमर्पितः ।
स चार्हद्ध्याननिष्ठात्मा ततस्तत्रैव तद्ग्रहः ॥ १८९ ॥
परिणमते येनात्मा भावेन स तेन तन्मयो भवति ।
अर्हद्ध्यानाविष्टो भावार्हः स्यात्स्वयं तस्मात् ॥ १९० ॥
येन भावेन यद्रूपं ध्यायत्यात्मानमात्मवित् ।
तेन तन्मयतां याति सोपाधिः स्फटिको यथा ॥ १९१ ॥
अथवा भाविनो भूताः स्वपर्यायास्तदात्मकाः ।
आसते द्रव्यरूपेण सर्वद्रव्येषु सर्वदा ॥ १९२ ॥
ततोऽयमर्हत्पर्यायो भावी द्रव्यात्मना सदा ।
भव्येष्वास्ते सतश्चास्य ध्याने को नाम विभ्रमः ॥ १९३ ॥
किंच भ्रांतं यदीदं स्यात्तदा नातः फलोदयः ।
नहि मिथ्याजलाज्जातु विच्छित्तिर्जायते तृषः ॥ १९४ ॥
प्रादुर्भवंति चामुष्मात्फलानि ध्यानवर्तिनां ।
धारणावशतः शान्तक्रूररूपाण्यनेकधा ॥ १९५ ॥
गुरूपदेशमासाद्य ध्यायमानः समाहितः ।
अनंतशक्तिरात्मायं मुक्तिं भुक्तिं च यच्छति ॥ १९६ ॥

ध्यातोऽर्हत्सिद्धरूपेण चरमाङ्गस्य मुक्तये ।
तद्ध्यानोपात्तपुण्यस्य स एवान्यस्य भुक्तये ॥ १९७ ॥
ज्ञानं श्रीरायुरारोग्यं तुष्टिपुष्टिर्वपुर्धृतिः ।
यत्प्रशस्तमिहान्यच्च तत्तद्ध्यातुः प्रजायते ॥ १९८ ॥
तद्ध्यानाविष्टमालोक्य प्रकंपन्ते महाग्रहाः ।
नश्यन्ति भूतशाकिन्यः क्रूराः शाम्यंति च क्षणात् ॥ १९९ ॥
यो यत्कर्म प्रभुर्देवस्तद्ध्यानाविष्टमात्मनः ।
ध्याता तदात्मको भूत्वा साधयत्यात्मवांछितं ॥ २०० ॥
पार्श्वनाथो भवन्मंत्री सकलीकृतविग्रहः ।
महामुद्रां महामंत्रं महामंडलमाश्रितः ॥ २०१ ॥
तैजसीप्रभृतिर्बिभ्रद्धारणाश्च यथोचितं ।
निग्रहादीनुदग्राणां ग्रहाणां कुरुते द्रुतं ॥ २०२ ॥
स्वयमाखंडलो भूत्वा महामंडलमध्यगः ।
किरीटी कुंडली वज्री पीतभूषाम्बरादिकः ॥ २०३ ॥
कुंभकीस्तंभमुद्राद्यास्तंभनं मंत्रमुच्चरन् ।
स्तंभकार्याणि सर्वाणि करोत्येकाग्रमानसः ॥ २०४ ॥
स स्वयं गरुडीभूय क्ष्वेडं क्षपयति क्षणात् ।
कंदर्पश्च स्वयं भूत्वा जगन्नयति वश्यतां ॥ २०५ ॥
एवं वैश्वानरो भूत्वा ज्वलज्ज्वालाशताकुलः ।
शीतज्वरं हरत्याशु व्याप्य ज्वालाभिरातुरं ॥ २०६ ॥
स्वयं सुधामयो भूत्वा वर्षन्नमृतमातुरे ।
अथैनमात्मसात्कृत्य दाहज्वरमपास्यति ॥ २०७ ॥
क्षीरोदधिमयो भूत्वा प्लावयन्नखिलं जगत् ।
शान्तिकं पौष्टिकं योगी विदधाति शरीरिणाम् ॥ २०८ ॥

किमत्र बहुनोक्तेन यद्यत्कर्म चिकीर्षति ।
तद्देवतामयो भूत्वा तत्तन्निर्वर्तयत्ययम् ॥ २०९ ॥
शांते कर्म्मणि शांतात्मा क्रूरे क्रूरो भवन्नयं ।
शांतक्रूराणि कर्माणि साधयत्येव साधकः ॥ २१० ॥
आकर्षणं वशीकारः स्तंभनं मोहनं द्रुतिः ।
निर्विषीकरणं शांतिर्विद्वेषोच्चाटनिग्रहाः ॥ २११ ॥
एवमादीनि कार्याणि दृश्यन्ते ध्यानवर्तिनां ।
ततः समरसीभावसफलत्वान्न विभ्रमः ॥ २१२ ॥
यत्पुनः पूरणं कुंभो रेचनं दहनं प्लवः ।
सकलीकरणं मुद्रामंत्रमंडलधारणाः ॥ २१३ ॥
कर्म्माधिष्ठातृदेवानां संस्थानं लिंगमासनं ।
प्रमाणं वाहनं वीर्यं जातिर्नामद्युतिर्दिशा ॥ २१४ ॥
भुजवक्त्रनेत्रसंख्या भावः क्रूरस्तथेतरः ।
वर्णस्पर्शस्वरोऽवस्था वस्त्रं भूषणमायुधं ॥ २१५ ॥
एवमादि यदन्यच्च शांतक्रूराय कर्मणे ।
मंत्रवादादिषु प्रोक्तं तद्ध्यानस्य परिच्छदः ॥ २१६ ॥
यदात्रिकं फलं किंचित्फलमामुत्रिकं च यत् ।
एतस्य द्वितयस्यापि ध्यानमेवाग्रकारणं ॥ २१७ ॥
ध्यानस्य च पुनर्मुख्यो हेतुरेतच्चतुष्टयम् ।
गुरूपदेशः श्रद्धानं सदाभ्यासः स्थिरं मनः ॥ २१८ ॥
अत्रैवमाग्रहं कार्षुर्यद्ध्यानफलमैहिकं ।
इदं हि ध्यानमाहात्म्यख्यापनाय प्रदर्शितं ॥ २१९ ॥
यद्ध्यानं रौद्रमार्त्तं वा यदैहिकफलार्थिनां ।
तस्मादेतत्परित्यज्य धर्म्यं शुक्लमुपास्यतां ॥ २२० ॥

तत्त्वज्ञानमुदासीनमपूर्वकरणादिषु ।
शुभाशुभमलापायाद्विशुद्धं शुक्लमभ्यधुः ॥ २२१ ॥
शुचिगुणयोगाच्छुक्लं कषायरजसः क्षयादुपशमाद्वा ।
माणिक्यशिखावदिदं सुनिर्मलं निःप्रकंपं च ॥ २२२ ॥
रत्नत्रयमुपादाय त्यक्त्वा बंधनिबंधनं ।
ध्यानमभ्यस्यतां नित्यं यदि योगिन्मुमुक्षसे ॥ २२३ ॥
ध्यानाभ्यासप्रकर्षेण त्रुट्यन्मोहस्य योगिनः ।
चरमांगस्य मुक्तिः स्यात्तदा अन्यस्य च क्रमात् ॥ २२४ ॥
तथा ह्यचरमांगस्य ध्यानमभ्यस्यतः सदा ।
निर्जरासंवरश्च स्यात्सकलाशुभकर्मणां ॥ २२५ ॥
आस्रवन्ति च पुण्यानि प्रचुराणि प्रतिक्षणं ।
यैर्महर्द्धिर्भवत्येष त्रिदशः कल्पवासिषु ॥ २२६ ॥
तत्र सर्वेन्द्रियामोदि मनसः प्रीणनं परं ।
सुखामृतं पिबन्नास्ते सुचिरं सुरसेवितः ॥ २२७ ॥
ततोऽवतीर्य मर्त्येऽपि चक्रवर्त्यादिसंपदः ।
चिरं भुक्त्वा स्वयं मुक्त्वा दीक्षां दैगंबरीं श्रितः ॥ २२८ ॥
वज्रकायः स हि ध्यात्वा शुक्लध्यानं चतुर्विधं ।
विधूयाष्टापि कर्माणि श्रयते मोक्षमक्षयं ॥ २२९ ॥
आत्यंतिकः स्वहेतोर्यो विश्लेषो जीवकर्मणोः ।
स मोक्षः फलमेतस्य ज्ञानाद्याः क्षायिका गुणाः ॥ २३० ॥
कर्मबंधनविध्वंसादूर्ध्वं व्रज्यास्वभावतः ।
क्षणेनैकेन मुक्तात्मा जगच्चूडाग्रमृच्छति ॥ २३१ ॥
पुंसः संहारविस्तारौ संसारे कर्मनिर्मितौ ।
मुक्तौ तु तस्य तौ नस्तः क्षयात्तद्धेतुकर्मणां ॥ २३२ ॥

ततः सोऽनन्तरत्यक्तस्वशरीरप्रमाणतः ।
किंचिदूनस्तदाकारस्तत्रास्ते स्वगुणात्मकः ॥ २३३ ॥

स्वरूपावस्थितिः पुंसस्तदा प्रक्षीणकर्मणः ।
नाभावो नाप्यचैतन्यं न चैतन्यमनर्थकं ॥ २३४ ॥

स्वरूपं सर्वजीवानां स्वपरस्य प्रकाशनं ।
भानुमंडलवत्तेषां परस्मादप्रकाशनं ॥ २३५ ॥

तिष्ठत्येव स्वरूपेण क्षीणे कर्मणि पौरुषः ।
यथा मणिस्स्वहेतुभ्यः क्षीणे सांसर्गिके मले ॥ २३६ ॥

न मुह्यति न संशेते न स्वार्थानध्यवस्यति ।
न रज्यते न च द्वेष्टि किंतु स्वस्थः प्रतिक्षणं ॥ २३७ ॥

त्रिकालविषयं ज्ञेयमात्मानं च यथास्थितं ।
जानन् पश्यंश्च निःशेषमुदास्ते स तदा प्रभुः ॥ २३८ ॥

अनंतज्ञानदृग्वीर्यवैतृष्ण्यमयमव्ययं ।
सुखं चानुभवत्येष तत्रातीन्द्रियमच्युतः ॥ २३९ ॥

ननु चाक्षैस्तदर्थानामनुभोक्तुः सुखं भवेत् ।
अतीन्द्रियेषु मुक्तेषु मोक्षे तत्कीदृशं सुखं ॥ २४० ॥

इति चेन्मन्यसे मोहात्तन्न श्रेयो मतं यतः ।
नाद्यापि वत्स त्वं वेत्सि स्वरूपं सुखदुःखयोः ॥ २४१ ॥

आत्मायत्तं निराबाधमतीन्द्रियमनश्वरं ।
घातिकर्मक्षयोद्भूतं यत्तन्मोक्षसुखं विदुः ॥ २४२ ॥

यत्तु सांसारिकं सौख्यं रागात्मकमशाश्वतं ।
स्वपरद्रव्यसंभूतं तृष्णासंतापकारणं ॥ २४३ ॥

मोहद्रोहमदक्रोधमायालोभनिबंधनं ।
दुःखकारणबंधस्य हेतुत्वाद्दुःखमेव तत् ॥ २४४ ॥

दीक्षागुरुः पुनरजायत पुण्यमूर्तिः
श्रीनागसेनमुनिरुद्धचरित्रकीर्तिः ॥ २५६ ॥

तेन प्रवृद्धधिषणेन गुरूपदेश-
मासाद्य सिद्धिसुखसंपदुपायभूतं ।
तत्त्वानुशासनमिदं जगतां हिताय
श्रीनागसेनविदुषा व्यरचि स्फुटार्थं ॥ २५७ ॥

जिनेंद्राः सद्ध्यानज्वलनहुतघातिप्रकृतयः
प्रसिद्धाः सिद्धाश्च प्रहततमसः सिद्धिनिलयाः ।
सदाचार्या वर्याः सकलसदुपाध्यायमुनयः ।
पुनंतु स्वांतं नस्त्रिजगदधिकाः पंच गुरवः ॥ २५८ ॥

देहज्योतिषि यस्य मज्जति जगद् दुग्धांबुराशाविव
ज्ञानज्योतिषि च स्फुटत्यतितरामों भूर्भुवःस्वस्त्रयी ।
शब्दज्योतिषि यस्य दर्पण इव स्वार्थाश्चकासंत्यमी
स श्रीमानमरार्चितो जिनपतिर्ज्योतिस्त्रयायास्तु नः ॥२५९॥

इति श्रीमन्नागसेनमुनिविरचितः तत्त्वानुशासनसिद्धान्तः समाप्तः ।

श्रीमत्पूज्यपादस्वामिविरचितः

इष्टोपदेशः ।

श्रीपण्डित-आशाधर-कृतसंस्कृतटीकासमेतः ।

टीकाकारस्य मंगलाचरणम् ।

परमात्मानमानम्य मुमुक्षुः स्वात्मसंविदे ।
इष्टोपदेशमाचष्टे स्वशक्त्याशाधरः स्फुटम् ॥

तत्रादौ यो यद्गुणार्थी स तद्गुणोपेतं पुरुषविशेषं नमस्करोतीति परमात्मगुणार्थी ग्रंथकर्ता परमात्मानं नमस्करोति, तद्यथा;—

यस्य स्वयं स्वभावाप्तिरभावे कृत्स्नकर्मणः ।
तस्मै संज्ञानरूपाय नमोऽस्तु परमात्मने ॥ १ ॥

अस्तु भवतु । किं तन्नमः नमस्कारः कस्मै, तस्मै परमात्मने । परम अनाध्येयाप्रहेयातिशयत्वात्सकलसंसारिजीवेभ्य उत्कृष्ट आत्मा चेतनः परमात्मा तस्मै । किंविशिष्टाय, संज्ञानरूपाय सम्यक्सकलार्थसाक्षात्कारित्वादितदत्यन्तसूक्ष्मत्वार्दीनामपि लाभात्कर्महेतुत्वादेरपि विकारस्य त्यागाच्च संपूर्णज्ञानं स्वपरावबोधस्तदेव रूपं यस्य तस्मै । एवमाराध्यस्वरूपमुक्त्वा तत्प्राप्त्युपायमाह । यस्याभूत्कासौ स्वभावाप्तिः स्वभावस्य निर्मलनिश्चलचिद्रूपस्य आप्तिर्लब्धिः कथंचित्तादात्म्यपरिणतिः । कृतकृत्यतया स्वरूपेऽवस्थितिरित्यर्थः । केन, स्वयं संपूर्णरत्नत्रयात्मनात्मना । क सति, अभावे शक्तिरूपतया विनाशे । कस्य, कृत्स्नकर्मणः । कृत्स्नस्य सकलस्य द्रव्यभावरूपस्य कर्मण आत्मपारतंत्र्यनिमित्तस्य ॥ १ ॥

१ अनारोपि अप्रतिहत-। २ ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्माणि, रागद्वेषादयो भावकर्माणि ।

अथ शिष्यः प्राह स्वामिन् स्वयं स्वरूपोपलब्धिः कथमिति स्वस्यात्मनः स्वयमात्मना स्वरूपस्य सम्यक्त्वादिगुणाष्टकाभिव्यक्तिरूपस्य उपलब्धिः कथं केनोपायेन दृष्टान्ताभावादिति। अत्राचार्यः समाधत्ते,—

योग्योपादानयोगेन दृषदः स्वर्णता मता।
द्रव्यादिस्वादिसंपत्तावात्मनोऽप्यात्मता मता ॥ २ ॥

मता अभिप्रेता लोकैः। कासौ, स्वर्णता सुवर्णभावः। कस्य, दृषदः सुवर्णाविर्भावयोग्यपाषाणस्य। केन, योग्यानां सुवर्णपरिणामकरणोचितानां उपादानानां कारणानां योगेन मेलापकेन संपत्त्या यथा। एवमात्मनोऽपि पुरुषस्यापि न केवलं दृषद् इत्यपि शब्दार्थः। मता कथिता। कासौ, आत्मता। आत्मनो जीवस्य भावो निर्मलनिश्चलचैतन्यं। कस्यां सत्यां, द्रव्यादिस्वादिसंपत्तौ द्रव्यमन्वयिभावः आदिर्येषां क्षेत्रकालभावानां ते च ते स्वादयश्च सुशब्दः स्वशब्दो वा आदिर्येषां ते स्वादयो द्रव्यादयश्च स्वादयश्च। द्रव्यादयो विशेषणविशेष्यभावः इति समासः। सुद्रव्यं सुक्षेत्रं सुकालः सुभाव इत्यर्थः। सुशब्दः प्रशस्तार्थः। प्राशस्त्यं चात्र प्रकृतकार्योपयोगित्वं द्रव्यादिस्वादीनां संपत्तिः संपूर्णता तस्यां सत्यां।

अथ शिष्यः प्राह—तर्हि व्रतादीनामानर्थक्यमिति। भगवन् यदि सुद्रव्यादिसामग्र्यां सत्यामेवायमात्मा स्वात्मानमुपलप्स्यते तर्हि व्रतानि हिंसाविरत्यादीनि आदयो येषां समित्यादीनां तेषामानर्थक्यं निष्फलत्वं स्यादभिप्रेतार्थः स्वात्मोपलब्धेः सुद्रव्यादिसंपत्त्यपेक्षत्वादित्यर्थः। अत्राचार्यो निषेधमाह—तन्नेति। वत्स! यत्त्वया शंकितं व्रतादीनामानर्थक्यं तन्न भवति। तेषामपूर्वशुभकर्मनिरोधेनोपार्जिताशुभकर्मैकदेशक्षपणेन च सफलत्वात्तद्विषयरागलक्षणशुभोपयोगजनितपुण्यस्य च स्वर्गादिपदप्राप्तिनिमित्तत्वादेव च व्यक्तीकुर्वन् वक्ति;—

---

१ मेलापकेन। २ कस्यां सामग्र्यां विद्यमानायां। ३ आरब्धकार्यसाधकत्वं।
४ वांछितार्थः।

वरं व्रतैः पदं दैवं नाव्रतैर्बत नारकं ।
छायातपस्थयोर्भेदः प्रतिपालयतोर्महान् ॥ ३ ॥

वरं भवतु । किं तत्पदं स्थानं । किंविशिष्टं, दैवं देवानामिदं दैवं स्वर्गः कैर्हेतुभिर्व्रतैर्व्रतादिविषयरागजनितपुण्यैः तेषां स्वर्गादिपदाभ्युदयनिर्बंधत्वेन सकलजनसुप्रसिद्धत्वात् तर्ह्यव्रतान्यपि तथाविधानि भविष्यंतीत्याशंक्याह । नेत्यादि । न वरं भवति । किं तत्पदं । किंविशिष्टं, नारकं नरकसंबंधि । कैः, अव्रतैः हिंसादिपरिणामजनितपातकैः बतेति खेदे कष्टे वा । तर्हि व्रताव्रतनिमित्तयोरपि देवनारकपक्षयोः साम्यं भविष्यतीत्याशंकायां तयोर्महदंतरमिति दृष्टांतेन प्रकटयन्नाह । छायेत्यादि । भवति । कोऽसौ, भेदः अंतरं । किंविशिष्टो, महान् बृहत् । कयोः, पथिकयोः । किं कुर्वतोः, स्वकार्यवशान्निगरांतर्गतं तृतीयं स्वसार्थिकमागच्छंतं पथि प्रतिपालयतोः प्रतीक्षमाणयोः । किंविशिष्टयोः सतोः, छायातपस्थयोः छाया च आतपश्च छायातपौ तयोः स्थितयोः । अयमर्थो यथैव छायास्थितस्तृतीयागमनकालं यावत्सुखेन तिष्ठति आतपस्थितश्च दुःखेन तिष्ठति तथा व्रतादिकृतानिस आत्मा जीवः सुद्रव्यादयो मुक्तिहेतवो यावत्संपद्यते तावत्स्वर्गादिपदेषु सुखेन तिष्ठति अन्यश्च नरकादिपदेषु दुःखेनेति । अथ विनेयः पुनराशंकते । एवमात्मनि भक्तिरयुक्ता स्यादिति भगवन्नेवं चिरभाविमोक्षसुखस्य व्रतसाध्ये संसारसुखे सिद्धे सत्यात्मनि चिद्रूपे भक्तिर्भावविशुद्ध आंतरोऽनुरागो अयुक्ता अनुपपन्ना स्याद्भवेत् तत्साध्यस्य मोक्षसुखस्य सुद्रव्यादिसंपत्त्यपेक्षया दूरवर्तित्वादवांतरप्राप्यस्य च स्वर्गादिसुखस्य व्रतैकसाध्यत्वात् । अत्राप्याचार्यः समाधत्ते । तदपि नेति न केवलं व्रतादिनामानर्थक्यं न भवेत् किं तर्हि तदप्यात्मभक्त्यनुपपत्तिप्रकाशनमपि त्वया क्रियमाणं न साधु स्यादित्यर्थः । यतः—

१ मध्यस्थस्य । २ अयुक्ति ।

इत्यर्थः । उद्वेजयंति उद्वेगं कुर्वन्ति न सुखयन्ति के ते, एते सुखजनकत्वेन लोके प्रतीता भोगाः रमणीयरमणीप्रमुखा इंद्रियार्थाः । क इव, रोगा इव ज्वरादिव्याधयो यथा । कस्यां तत्त्वामारादि दुर्निवारवैरिप्रभृतिसंपादित-दौर्मनस्यलक्षणायां विपदि । तथाचोक्तम्—

> " मुंचांगं ग्लपयस्यलं क्षिप कुतोऽप्यक्षाम विद्मात्यदो
> दूरे धेहि न हृष्य एव किममूरन्या न वेत्सि क्षणम् ।
> स्थेयं चेद्धि निरुद्धि गामिति तयोद्यांगे द्विपः स्त्री क्षिप-
> त्याभ्रेयमसुखागरागललिताल्पविधित्सु रतिम् ॥ "

अपि च—

> " रम्यं हर्म्यं चंदनं चंद्रपादा
> वेणुर्वीणा यौवनस्था युवत्यः ।
> नैते रम्या क्षुत्पिपासार्दितानां
> सर्वारंभास्तंडुलप्रस्थमूलाः ॥ "

तथा । अतपे धृतिमता सह वध्वा यामिनीविरहिणा विहगेन सेहिरे न किरणा हिमरश्मेर्दुःखिते मनसि सर्वमसह्यमित्यादि । अतो ज्ञायते ऐंद्रियकं सुखं वासनामात्रमेव नात्मनः स्वाभाविकानाकुलत्वस्वभावं । कथमन्यथा लोके सुखजनकत्वेन प्रतीतानामपि भावानां दुःखहेतुत्वं । एवं दुःखमपि । अत्राह पुनः शिष्यः—एते सुखदुःखे खलु वासनामात्रे कथं न लक्ष्येते इति । खल्विति वाक्यालंकारे निश्चये वा । कथं केन प्रकारेण न लक्ष्येते न संवेद्येते लोकैरिति शेषः । शेषं स्पष्टम् ।

अथाचार्यः प्रबोधयति;—

> मोहेन संवृतं ज्ञानं स्वभावं लभते न हि ।
> मत्तः पुमान्पदार्थानां यथा मदनकोद्रवैः ॥ ७ ॥

---

१ आच्छादितं ।

[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] । [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] । [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] । [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ।

तथा चोक्तम्

[illegible] मेकचकारण ।

कर्माणि [illegible] मेकचकारणः ॥"

[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] । [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible], [illegible] [illegible] [illegible] । [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] । [illegible] । [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] । [illegible] [illegible] [illegible] पुरुषः शरीरादीनि अन्यथाभूतानि प्रतिपद्यते [illegible] ।

अमुमेवार्थं स्फुटयति,—

वपुर्गृहं धनं दाराः पुत्रा मित्राणि शत्रवः ।

सर्वथान्यस्वभावानि मूढः स्वानि प्रपद्यते ॥ ८ ॥

प्रपद्यते । कोसौ, मूढः स्वपरविवेकज्ञानहीनः पुमान् । कानि, वपुर्गृहादीनि वस्तूनि । किंविशिष्टानि, स्वानि स्वधात्मा स्वानि चात्मीयानि स्वानि । एक-शेषप्रयोगादेकस्य स्वशब्दस्य लोपः । अयमर्थो दृढतममोहाविष्टो देहादिक-मात्मानं प्रपद्यते । आत्मत्वेनाभ्युपगच्छति । दृढतरमोहाविष्टश्च आत्मीय-त्वेन । किंविशिष्टानि सति स्वानि प्रपद्यत इत्याह । सर्वथान्यस्वभावानि सर्वेण द्रव्यक्षेत्रकालभावलक्षणेन प्रकारेण स्वस्वभावादन्यो भिन्नः स्वभावो

१ [illegible] ।

येषां तानि । किं किमित्याह । वपुः शरीरं तावदचेतनत्वादिस्वभावं प्रसिद्ध-मस्ति । एवं गृहं धनं दाराः भार्याः पुत्राः आत्मजाः मित्राणि सुहृदः शत्रवो मित्राः । अत्र हितवर्गमुद्दिश्य दृष्टान्तः । अत्रैतेषु वपुरादिषु मध्ये हितानामुपकारकाणां दारादीनां वर्गो गणस्तमुद्दिश्य विपर्यीकृत्य दृष्टान्त उदाहरणं प्रदर्श्यते । अस्माभिरिति शेषः ।

तद्यथा;—

दिग्देशेभ्यः खगा एत्य संवसंति नगे नगे ।
स्वस्वकार्यवशाद्यान्ति देशे दिक्षु प्रगे प्रगे ॥ ९ ॥

संवसंति मिलित्वा रात्रिं यावन्निवासं कुर्वन्ति । के ते, खगाः पक्षिणः । क्व क्व, नगे नगे वृक्षे वृक्षे । किं कृत्वा, एत्य आगत्य । केभ्यो, दिग्देशेभ्यः दिशः पूर्वादयो दिश देशास्तत्स्थैकदेशो अंगवंगादयस्तेभ्योऽवधिकृतेभ्यः तथा यांति गच्छन्ति । के ते खगाः । क्वासु, दिक्षु दिग्देशेष्विति प्राप्तेर्विपर्ययनिर्देशो गमन-नियमनिवृत्त्यर्थस्तेन यो यस्यामेव दिशि गच्छति यश्च यस्माद्देशादायातः स तस्मिन्नेव देशे गच्छतीति नास्ति नियमः । किं तर्हि, यत्र क्वापि यथेच्छं गच्छंतीत्यर्थः । कस्मात्, स्वस्वकार्यवशात् निजनिजकरणीयपारतंत्र्यात् । कदा कदा, प्रगे प्रगे प्रातः प्रातः । एवं संसारिणो जीवा अपि नरकादि-गतिस्थानेभ्य आगत्य कुले स्वायुःकालं यावत् संभूय तिष्ठंति तथा निजनिज-पारतंत्र्यात् देवगत्यादिस्थानेष्वनियमेन स्वायुःकालान्ते गच्छन्तीति प्रतीहि । कथं भद्र तव दारादिषु हितबुद्ध्या गृहीतेषु सर्वथान्यस्वभावेषु आत्मा-त्मीयभावः । यदि खल्वेतदात्मकाः स्युः तदा त्वयि तदवस्थ एव कथमव-स्थान्तरं गच्छेयुः यदि च एते तावकाः स्युस्तर्हि कथं । क प्रयोगमंतरेणैव यत्र क्वापि प्रयांतीति मोहमहावेशमपसार्य यथावत्पश्येति दार्ष्टांते दर्शनीयं । अहितवर्गेऽपि दृष्टान्तः प्रदर्श्यते अस्माभिरिति योज्यम्,—

विराधकः कथं हंत्रे जनाय परिकुप्यति ।
त्र्यंगुलं पातयन्पद्भ्यां स्वयं दंडेन पात्यते ॥ १० ॥

१ पराधीनतया ।

कथमित्यरुचौ न सद्धे कथं परिकुप्यति समंतात् कुप्यति । कोऽसौ, विराधकः अपकारकर्त्ता जनः । कस्मै, इतरे जनाय प्रत्यपकारकाय ढौकाय ।

" सुखं वा यदि वा दुःखं येन यस्य कृतं भुवि ।
अवाप्नोति स तत्तस्मादेष मार्गः सुनिश्चितः ॥ "

इत्यभिधानादन्योऽप्येतदिति भावः । अत्र दृष्टान्तमाचष्टे । अंगुष्ठमित्यादि पात्यते भूमौ क्षिप्यते । कोऽसौ, यः कश्चिदसमीक्ष्यकारी जनः । केन, दंडेन हस्तधार्यकाष्ठेन कथं स्वयं पात्य प्रेरणमंतरेणैव । किं कुर्वन्, पातयन् भूमिं प्रति नामयन् । किं तत्, त्र्यंगुलं अंगुलित्रयाकारं कचाराद्याकर्षणावयवं । काभ्यां, पद्भ्यां पादाभ्यां ततोऽहिते प्रीतिरहिते चाप्रीतिः स्वहितैषिणा प्रेक्षावता न करणीया ।

अत्र विनेयः पृच्छति । हिताहितयो रागद्वेषौ कुर्वन् किं कुरुते इति दारादिषु रागं शत्रुषु च द्वेषं कुर्वाणः पुरुषः किमात्मनोहितं कार्यं करोति येन तावत् कार्यतयोपदिश्यते इत्यर्थः । अत्राचार्यः समाधत्ते;—

रागद्वेषद्वयीदीर्घनेत्राकर्षणकर्मणा ।
अज्ञानात्सुचिरं जीवः संसाराब्धौ भ्रमत्यसौ ॥ ११ ॥

भ्रमति संसरति । कोऽसौ, असौ जीवश्चेतनः । क्व, संसाराब्धौ संसारः द्रव्यपरिवर्तनादिरूपो भवोऽब्धिः समुद्र इव दुःखहेतुत्वाद्दुस्तरत्वाच्च तस्मिन् । कस्मात्, अज्ञानात् देहादिष्वात्मविभ्रमात् । कियत्कालं, सुचिरं अतिदीर्घकालं । केन, रागेत्यादि । राग इष्टे वस्तुनि प्रीतिः द्वेषश्चानिष्टेऽप्रीतिस्तयोर्द्वयी । रागद्वेषयोः शक्तिव्यक्तिरूपतया युगपत् प्रवृत्तिज्ञापनार्थं द्वयीग्रहणं, शेषदोषाणां च तद्द्वयप्रतिबद्धत्वबोधनार्थं । तथा चोक्तम्—

" यत्र रागः पदं धत्ते द्वेषस्तत्रेति निश्चयः ।
उभावेतौ समालंब्य विक्रमत्यधिकं मनः ॥ "

१ अयुक्तं । २ अविचार्यैककार्यकर्त्ता । ३ पंडितेन ।

अपि च । आत्मनि सति परसंज्ञा स्वपरविभागात् परिग्रहद्वेषौ अनयोः संप्रतिबद्धाः सर्वे दोषाश्च जायन्ते । स च दीर्घेनमायात्मकसंसारदण्डपाश इव अमनोज्ञारागस्वपरदर्शनकर्मप्रेरित्य रागादिरूपतया परिणमनं मेनकायावदर्शनपर्यायादिमुपानयनं मेन अद्योपमानभूतो मंथदंड आलोच्यतेन यदा मेनकावदर्शनव्यापारः संदोहः समुद्रे प्रचिरमंतो लोके प्रसिद्ध-स्तथा स्वपरविवेकानवबोधात् । यद्दुःभेन रागादिपरिणामेन कारण-कार्यदशारागानिनकर्मबंधन संसारस्था जीवो अनादिकालं संसारे भ्रांतो भ्रमति भ्रमिष्यति । भ्रमती दशनिष्ठन दर्शनात्पादिरूप निरपसूते रुद्रो विधानात् ।

उक्तं च ।

> " जो खलु संसारत्थो जीवो तत्तो दु होदि परिणामो ।
> परिणामादो कम्मं कम्मादो हवदि गदि सुगदी ॥ १ ॥
> गदिमधिगदस्स देहो देहादो इंदियाणि जायंते ।
> तेहिं दु विसयग्गहणं तत्तो रागो व दोसो वा ॥ २ ॥
> जायदि जीवस्सेवं भावो संसारचक्कवालंमि ।
> इदि जिणवरेहिं भणिओ अणाइणिहसणिहणो वा । " ॥ ३ ॥

अथ प्रतिपाद्यः पर्यनुयुंक्ते । तस्मिन्नपि यदि सुखी स्यात् को दोष इति भगवन् संसारेऽपि न केवलं मोक्षे इत्यपि शब्दार्थः । चेज्जीवः सुखयुक्तो न तर्हि को न कश्चित् दोषो दुःखरूप संसारस्य सर्वथा सुखस्यैव आमु-त्वात् येन संसारच्छेदाय संतो यतेरन्नित्यत्राह । वत्स !

> विपद्भवपदावर्ते पदिके वातिवाह्यते ।
> यावत्तावद्भवत्यन्याः प्रचुरा विपदः पुरः ॥ १२ ॥

अतिवाह्यते अतिक्रम्यते । प्रेर्यते । काले, विपत् सहजशारीरमानसा-

---

...मानात् १ विषयः पुष्यति ।

१

गंतुकानामापदां मध्ये या काप्येका विवक्षिता आपत्। जीवेनेति शेषः। क, भवपदावर्ते भवः संसारः पदावर्त इव पादचाल्यघटीयंत्रमिव भूयोभूयो परिवर्तमानत्वात्। केव, पदिकेवं पादाक्रांतदंडिका यथा तावद्भवन्ति। का, अन्या अपूर्वा प्रचुरा बह्वो विपदः आपदः पुरो अग्रे जीवस्य यदि। का इव, काछिकस्येति सामर्थ्यदुर्व्या। अतो जानीहि दुःखैकनिबंधनविपत्तिनिरंतरत्वात् संसार अवश्यंविनाश्यत्त्वम्।

पुनः शिष्य एवाह। न सर्वे विपद्वन्त ससंपदोपि दृश्यंत इति भगवन् समस्ता अपि संसारिणो न विपत्तियुक्ताः सन्ति सश्रीकाणामपि केषांचित् दृश्यमानत्वादित्यत्राह,—

> दुरर्ज्येनासुरक्षेण नश्वरेण धनादिना।
> स्वस्थंमन्यो जनः कोऽपि ज्वरवानिव सर्पिषा ॥ १३ ॥

भवति। कोसौ, जनो लोकः। किंविशिष्ट', कोपि निर्विवेको न सर्वः। किंविशिष्टो भवति, स्वस्थमन्य स्वस्थमात्मान मन्यमानो अह सुखीति मन्यत इत्यर्थ। केन कृत्वा, धनादिना द्रव्यकामिन्यादीष्टवस्तुजातेन। किंविशिष्टेन, दुरर्जेण अपायबहुलत्वाद् दुर्ध्यानावेशाच्च दुःखेन महता कष्टेनार्जित इति दुरर्जेण तथा असुरक्षेण दुस्त्राणेन यत्नतो रक्षमाणस्याप्यपायस्यावश्यभावित्वात्। तथा नश्वरेण रक्षमाणस्यापि विनाशसंभवादशाश्वतेन। अत्र दृष्टान्तमाह। ज्वरवानिव। इव [illegible] यथार्थ यथा कोऽपि मुग्धो ज्वरवान् अतिशयेन मतेर्विनाशात् सामज्वरार्त सर्पिषा घृतेन पानाद्युपयुक्तेन स्वस्थंमन्यो भवति। निरामयमात्मानं मन्यत ततो बुद्ध्यस्व दुरुपार्ज्यदुरक्षणभंगुरद्रव्यादिना दुःखमेव स्यात्।

उक्तं च—

> " अर्थस्योपार्जने दुःखमर्जितस्य च रक्षणे।
> आये दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थं दुःखभाजनम् ॥ "

---

१ आकस्मिकागत।

'गुणोवि विनेयः पृच्छति।" एवंविधां संपदां कथं न त्यजतीति दुर्जनत्वादिप्रकारेण लोकद्वयेऽपि दुःखदां धनादिसंपत्तिं कथं मुंचति जनः। कथमिति विस्मयगर्भे प्रश्ने। अत्र गुरुरुत्तरमाहः—

विपत्तिमात्मनो मूढः परेषामिव नेक्षते।
दह्यमानमृगाकीर्णवनांतरतरुस्थवत्॥ १४॥

नेक्षते न पश्यति। कोऽसौ, मूढो धनाद्यासक्त्या लुप्तविवेको लोकः। कां, विपत्तिं चौरादिना क्रियमाणां धनापहाराद्यापदां। कस्य, आत्मन स्वस्य। केषामिव, परेषामिव यथा इमे विपदा आक्रम्यन्ते तथाहमप्याक्रतव्य इति न विवेचयतीत्यर्थः। क इव, दह्यमानैः दावानलज्वालादिभिर्भस्मीक्रियमाणैर्मृगैर्हरिणादिभिराकीर्णस्य संकुलस्य वनस्यांतरे मध्ये वर्तमानं तरुं वृक्षमारूढो जनो यथा आत्मनो मृगाणामिव विपत्तिं न पश्यति।

पुनराह शिष्यः कुत एतदिति, भगवन् कस्माद्धेतोरिदं सन्निहिताया अपि विपदो अदर्शनं जनस्य। गुरुराह। लोभादिति, वत्स धनादिगार्ध्यात्पुरोवर्तिनीमप्यापदं धनिनो न पश्यंति। यतः—

आयुर्वृद्धिक्षयोत्कर्षहेतुं कालस्य निर्गमं।
वांछतां धनिनामिष्टं[1] जीवितात्सुतरां धनं॥ १५॥

वर्तते। किं तद्धनं। किंविशिष्टं, इष्टमभिमत। कथं, सुतरां अतिशयेन कस्मा'ज्जीवितात्प्राणेभ्यः। केषां, धनिनां। किं कुर्वतां, वांछतां। कं, निर्गमं अतिशयेन गमनं। कस्य, कालस्य। किंविशिष्ट, आयुरित्यादि। आयुःक्षयस्य वृद्ध्युत्कर्षस्य च कालान्तरवर्द्धनस्य कारणम्, अयमर्थो, धनिनां तथा जीवितव्यं नेष्टं यथा धनं। कथमन्यथा जीवितक्षयकारणमपि धनवृद्धिहेतुं कालनिर्गमं वांछंति। अतो धिग्धनम्' एवंविधव्यामोहहेतुत्वात्।

अत्राह शिष्यः। कथ धनं निंद्यं येन पुण्यमुपार्ज्यते इति पात्रदानदे-

1 अमनः स्थिनामपि।

आरंभे तापकान्प्राप्तावतृप्तिप्रतिपादकान् ।
अंते सुदुस्त्यजान् कामान् कामं कः सेवते सुधीः ॥ १७ ॥

को, न कश्चित् सुधीर्विद्वान् सेवते इंद्रियप्रणालिकयानुभवति । कान्, भोगोपभोगान् ।

उक्तं च—

" तदात्वेसुखसंज्ञेषु भावेष्वज्ञोऽनुरज्यते ।
हितमेवानुरुध्यते प्रपरीक्ष्य परीक्षकाः । "

कथंभूतान्, तापकान् देहेंद्रियमनःक्लेशहेतून् । क्व, आरंभे उत्पत्त्युपक्रमे । अन्नादिभोग्यद्रव्य-संपादनस्य कृष्यादिक्लेशबहुलतया सर्वजन-सुप्रसिद्धत्वात् । तर्हि भुज्यमानाः कामाः सुखहेतवः संत्विति सेव्यास्ते इत्याह, प्राप्तावित्यादि । प्राप्तौ इंद्रियेण संबंधे सति अतृप्तेः सुतृष्णायाः प्रतिपादकान् दायकान् । उक्तं च—

" अपि संकल्पिताः कामाः संभवंति यथा यथा ।
तथा तथा मनुष्याणां तृष्णा विश्वं विसर्पति ॥ "

तर्हि यथेष्टं भुक्त्वा तृप्तेषु तेषु तृष्णासंतापः शाम्यतीति सेव्यास्ते इत्याह । अंते सुदुस्त्यजान् भुक्तिप्रांते त्यक्तुमशक्यकान् । सुभुक्तेष्वपि तेषु मनोव्यतिषंगस्य दुर्निवारत्वात् । उक्तं च—

" दहनस्तृणकाष्ठसंचयैरपि तृप्येदुदधिर्नदीशतैः ।
न तु कामसुखैः पुमानहो बलवत्ता खलु कापि कर्मणः ॥

अपि च—किमपीदं विषयमयं विषमतिविषमं पुमानयं येन ।
प्रसभमनुभूय मनो भवे भवे नैव चेतयते ॥ "

ननु तत्त्वविदोऽपि भोगानभुक्तवंतो न श्रूयंत इति कामान् कः सेवते

१ तदात्वे । २ कल्पिते । ३ संबंधस्य । ४ बलात्कारेण ।

सुधीरित्युपदेशः कथं श्रद्धीयत इत्याह। काममिति। अत्यर्थं। इदमत्र तात्पर्यं चारित्रमोहोदयात् भोगान् त्यक्तुमशक्नुवन्नपि तत्त्वज्ञो हेयरूपतया कामान्यन्नेव सेवते मंदीभवन्मोहोदयस्तु ज्ञानवैराग्यभावनया करणग्रामं संयम्य सहसा स्वकार्यायोत्सहत एव। तथाचोक्तम्—

इदं फलमियं क्रिया करणमेतदेव क्रमो व्ययोऽयमनुषंगजं फलमिदं दशेयं मम। अयं सुहृदयं द्विषन् प्रयतिदेशकालाविमाविति प्रतिवितर्कयन् प्रयतते बुधो नेतरः।

किंच यदर्थमेतदेवंविधमिति। भद्र यत्कायलक्षणं वस्तुसंतापाद्युपेतं कर्तुं कामस्त्वया प्रार्थ्यते तद्वक्ष्यमाणलक्षणमित्यर्थः। स एवंविध इति पाठः।

तद्यथा—

भवंति प्राप्य यत्संगमशुचीनि शुचीन्यपि।
स कायः संततापायस्तदर्थं प्रार्थना वृथा॥ १८॥

वर्तते। कोऽसौ, स कायः शरीरं। किंविशिष्टः, संततापायः नित्यक्षुधादिसंतापः। स कः, इत्याह। यत्संगं येन कायेन सह संबंधं प्राप्य लब्ध्वा शुचीन्यपि पवित्ररम्याण्यपि भोजनवस्त्रादिवस्तून्यशुचीनि भवंति यतश्चैव ततस्तदर्थं तं संततापायं कायं शुचिवस्तुभिरुपकर्तुं प्रार्थना आकांक्षा सैवाचैव वृथा व्यर्था कनकपाषाणवत् नित्यं चित्तं विकारिणि अकिंचित्करत्वात् क्षणे क्षणे परापरापायोपनिपातसंभवात्।

पुनरप्याह शिष्यः। तर्हि धनादिनाप्यात्मोपकारो भविष्यतीति। भगवन् संततापायतया कायस्य धनादिना यद्युपकारो न स्यात्तर्हि तदात्मनि सदपि तदनशनादितपश्चरणानुष्ठानत्वेऽपि इत्यर्थः। आत्मनः आत्मस्योपकारोऽस्तु भवितव्यमित्यर्थः। गुरुराह तदेवेति। यतः धनादिना आत्मोपकारमपि न संभाव्यते तच्चेति। यतः—

यज्जीवस्योपकाराय तद्देहस्यापकारकं।
यद्देहस्योपकाराय तज्जीवस्यापकारकं॥ १९॥

यदनशनादि तपोऽनुष्ठानं जीवस्य पूर्वापूर्वपापक्षपणनिवारणाभ्यामुपकाराय स्यात्तद्देहस्यापकारकं ग्लान्यादिनिमित्तत्वात् । यत्पुनर्धनादिकं देहस्य भोजनाद्युपयोगेन क्षुधाद्युपतापक्षयत्वादुपकाराय स्यात्तज्जीवस्योपार्जनादौ पापजनकत्वेन दुर्गति-दुःखनिमित्तत्वादपकारकं स्यादतो जानीहि जीवस्य धनादिना नोपकारगन्धोऽप्यस्ति धर्मस्यैव तदुपकारत्वात् ।

अत्राह शिष्यः । तर्हि कायस्योपकारश्चिन्त्यते इति भगवन् यद्येवं तर्हि " शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम् " इत्यभिधानात्तस्यापायनिरासाय यत्नः क्रियते न च कायस्यापायनिरासो दुःकर इति वाच्यम् । ध्यानेन तस्यापि सुकरत्वात् । तथाचोक्तम्—

" यदात्रिकं फलं किंचित्फलमामुत्रिकं च यत् ।
एतस्य द्विगुणस्यापि ध्यानमेवाग्रकारणम् ॥ "

इत्यस्य न दुस्सह किंचीति च—अत्र गुरुः प्रतिषेधमाह तदिति । ध्यानेन कायस्योपकारो न चिन्त्य इत्यर्थः ।

इतश्चिन्तामणिर्दिव्य इतः पिण्याकखंडकं ।
ध्यानेन चेदुभे लभ्ये क्वाद्रियंतां विवेकिनः ॥ २० ॥

अस्ति । कोऽसौ, चिन्तामणिः चिन्तितार्थप्रदो रत्नविशेषः । किंविशिष्टो, दिव्यो देवेनाधिष्ठितः । क, इतः अस्मिन्नेकस्मिन् पक्षे इतश्चान्यस्मिन् पक्षे पिण्याकखण्डकं कुत्सितमल्पं वा खलखंडकमस्ति एते च उभे द्वे अपि यदि ध्यानेन लभ्येते अवश्यं लभ्येते तर्हि कथय क द्वयोर्मध्ये कतरस्मिन्नेकस्मिन् विवेकिनो लोभच्छेदविचारचतुरा आद्रियंतां आदरं कुर्वन्तु । तदैहिकफलाभिलाषं त्यक्त्वा आमुत्रिकफलसिद्ध्यर्थमेवात्मा ध्यातव्यः । उक्तं च—

१ योगानुपचिनातो ।

अज्ञानोपास्तिरज्ञानं ज्ञानं ज्ञानिसमाश्रयः ।
ददाति यत्तु यस्यास्ति सुप्रसिद्धमिदं वचः ॥ २३ ॥

ददाति । काऽसौ, अज्ञानस्य देहादेर्मूढभ्रान्तेः संदिग्धगुर्वादेर्वा उपास्तिः सेवा । किं अज्ञानं, मोहभ्रमसंदेहलक्षणं तथा ददाति । काऽसौ, ज्ञानिनः स्वभावस्यात्मनो ज्ञानसंपन्नगुर्वादेर्वा समाश्रयः । अनन्यपरतया सेवनं । किं, ज्ञानं स्वार्थावबोधं । उक्तं च,—

ज्ञानमेव फलं ज्ञाने ननु श्लाघ्यमनश्वरम् ।
अहो मोहस्य माहात्म्यमन्यदप्यत्र मृग्यते ॥

को अत्र दृष्टांत इत्याह यदित्यादि ददातीत्यत्रापि योज्यं 'तु' रवधारणे तेनायमर्थः संपद्यते । यद्येव यस्य स्वाधीनं विद्यते स सेव्यमान तदेव ददातीत्येतद्वाक्यं लोके सुप्रतीतमतो भद्र ज्ञानिनमुपास्य समुज्जृम्भितस्वपरविवेकज्योतिरजस्रमात्मानमात्मनात्मनि सेव्यस्व । अत्राप्याह शिष्यः । ज्ञानिनोऽध्यात्मस्वस्थस्य किं भवतीति निष्पन्नयोग्यपेक्षया स्वात्मध्यानफलप्रश्नोऽयम् । गुरुराह,—

परीषहाद्यविज्ञानादास्रवस्य निरोधिनी ।
जायतेऽध्यात्मयोगेन कर्मणामाशु निर्जरा ॥ २४ ॥

जायते भवति । काऽसौ, निर्जरा एकदेशेन सक्षयो विश्लेष इत्यर्थः । केषां, कर्मणां सिद्धयोग्यपेक्षयाऽशुभानां च शुभानां साध्ययोग्यपेक्षया त्वसद्वेद्यादीनां । कथमाशु सद्य । केन, अध्यात्मयोगेन आत्मन्यात्मनः प्रणिधानेन, किं केवला, नेत्याह निरोधिनी प्रतिषेधयुक्ता कस्यास्रवस्यागमनस्य कर्मणामित्यत्रापि योज्यं । कुत इत्याह, परीषहाणां क्षुधादिदुःखभेदानामादिशब्दाद्देवादिकृतोपसर्गबाधानां चाविज्ञानादसंवेदनात् । तथा चोक्तम्—

"यस्य पुण्यं च पापं च निःफलं गलति स्वयम् ।
स योगी तस्य निर्वाणं न तस्य पुनरास्रवः" ॥ १ ॥

यथा च—

" तथा ह्यचरमाङ्गस्य ध्यानमभ्यस्यतः सदा ।
निर्जरा संवरश्चास्य सकलाशुभकर्मणां " ॥ २ ॥

अपि च—

" आत्मदेहान्तरज्ञानजनिताह्लादनिर्वृतः ।
तपसा दुष्कृतं घोरं भुञ्जानोऽपि न खिद्यते " ॥ ३ ॥

एतच्च व्यवहारनयादुच्यते । कुत इत्याशंकायां पुनराचार्य एवाह सा खलु कर्मणो भवति यस्य संबंधस्तदा कथमिति । वत्स आकर्णय खलु यस्यात्मा एकदेशेन विश्लेषलक्षणा निर्जरा कर्मणः चित्सामान्यानुविधायिपुद्गलपरिणामरूपस्य द्रव्यकर्मणः संबंधिनी संभवति द्रव्ययोरेव संयोगपूर्वविभागसम्भवात् तस्य च द्रव्यकर्मणस्तदा योगिनः स्वरूपमात्रावस्थानकाले संबंधः प्रत्यासत्तिरात्मना सह । कथं केन संयोगादिप्रकारेण संभवति सूक्ष्मेक्षिकया समीक्षयस्व न कथमपि संभवतीत्यर्थः । यदा खल्वात्मैव ध्यानं ध्येयं च स्यात्तदा सर्वात्मनाप्यात्मनः परद्रव्याद् व्यावृत्य स्वरूपमात्रावस्थितत्वात्कथं द्रव्यान्तरेण संबंधः स्यात्तस्य द्विष्ठत्वात् । न चैतत्संसारिणो न संभवतीति वाच्यं । संसारतीरप्राप्तस्यायोगिनो मुक्तात्मवत्पञ्चह्रस्वस्वरोच्चारणकाले यावत्तथावस्थानसंभवात् कर्मक्षपणाभिमुखस्य लक्षणोत्कृष्टशुक्ललेश्यासंस्कारावेशवशात्तावन्मात्रकर्मपारतंत्र्यव्यवहरणात् ।
तथा चोक्तं परमागमे—

" सीलेसिं संपत्तो णिरुद्धणिस्सेसआसवो जीवो ।
कम्मरयविप्पमुक्को गयजोगो केवली होदि ॥"

श्रूयतां चात्रैवार्थस्य संग्रहश्लोकः ।

कटस्य कर्त्ताहमिति संबंधः स्याद् द्वयोर्द्वयोः ।
ध्यानं ध्येयं यदात्मैव संबंधः कीदृशस्तदा ॥ २५ ॥

स्याद् भवेत् । कोसौ, संबंधः द्रव्यादिना प्रत्यासत्तिः । कयोर्द्वयोः कथंचिद्-भिन्नयोः पदार्थयोः इति अनेन लोकप्रसिद्धेन प्रकारेण कथमिति यथाऽमरिम । कीदृशः, कर्ता निर्माता । कस्य, कटस्य वंशदलानां जलादिप्रतिबंधार्थस्य परिणामस्य । एवं संबंधस्य द्विष्ठतां प्रदर्श्य प्रकृतेर्व्यतिरेकमाह । ध्यानमित्यादि ध्यायते येन ध्यायति वा यत्तद्ध्यानं ध्यातिक्रियां प्रति करणं कर्ता वा । उक्तंच,—

" ध्यायते येन तद्ध्यानं यो ध्यायति स एव वा ।"

ध्यायत इति ध्येयं चाध्याति क्रियया-व्याप्यं । यदा यस्मिन्नात्मनः परमात्मना सहैकीकरणकाले आत्मैव चिन्मात्रमेव स्यात्तदा कीदृशः संयोगादिप्रकारः संबंधो द्रव्यकर्मणा सहात्मनः स्यात् येन जायतेऽध्यात्मयोगेन कर्मणामाशु निर्जरेति परमार्थतः कथ्यते । अत्राह शिष्यः—तर्हि कथं बंधस्तत्प्रतिपक्षश्च मोक्ष इति भगवन् यद्यात्मकर्मद्रव्ययोरध्यात्मयोगेन विश्लेषः क्रियते तर्हि कथं केनोपायप्रकारेण तयोर्बंधः परस्परप्रदेशानुप्रवेशलक्षणः संश्लेषः स्यात् । तत्पूर्वकत्वाद्विश्लेषस्य कथं च तत्प्रतिपक्षो बंधविरोधी मोक्षः सकलकर्मविश्लेषलक्षणो जीवस्य स्यात्तस्यैवानंतरमुक्तहेतुत्वेन योगिभिः प्रार्थनीयत्वात् । गुरुराह—

बध्यते मुच्यते जीवः सममो निर्ममः क्रमात् ।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन निर्ममत्वं विचिंतयेत् ॥ २६ ॥

ममेत्यव्ययं ममेदमित्यभिनिवेशार्थमव्ययानामनेकार्थत्वात् तेन सममो ममेदमित्यभिनिवेशाविष्टो अहमस्येत्यभिनिवेशाविष्टश्चोपलक्षणत्वात् जीवः कर्मभिर्बध्यते । तथा चोक्तम्—

"न कर्मबहुलं जगन्न चलनात्मकं कर्म वा ।
न चापि करणानि वा न चिदचिद्वधो बंधकृत् ॥"

यदैक्यमुपयोगभूसमुपरो अतिरागादिभिः स एव किल केवलं भवति

बन्धहेतुर्तूर्णां । तथा स एव जीवो निर्ममस्तद्विपरीतस्तैर्मुच्यत इति यथासंख्येन योजनार्थं क्रमादित्युपात्तं । उक्तं च—

" अकिंचनोऽहमित्यास्व त्रैलोक्याधिपतिर्भवेः ।
योगिगम्यं तव प्रोक्तं रहस्यं परमात्मनः ॥ "

अथवा " रागी बध्नाति कर्माणि वीतरागी विमुंचति ।
जीवो जिनोपदेशोऽयं संक्षेपाद्बन्धमोक्षयो ॥ "

यस्मादेवं तस्मात्सर्वप्रयत्नेन व्रताद्यवधानेन मनोवाक्कायप्रणिधानेन वा निर्ममत्वं विचिन्तयेत् मत्तः कायादयोऽभिन्नास्तेभ्योऽहमपि तत्त्वतः नाहमेषां किमप्यस्मि ममाप्येते न किंचन इत्यादि श्रुतज्ञानभावनया मुमुक्षुविशेषेण भावयेत् । उक्तं च—

" निर्वृत्तिं भावयेत्तावन्निर्वृत्तिं तदभावतः ।
न वृत्तिर्न निवृत्तिश्च तदेव पदमव्ययं ॥ "

अथाह शिष्यः । कथं नु तदिति निर्ममत्वविचिन्तनोपायप्रश्नोऽयं अथ गुरुस्तत्त्वोक्रियां मम विज्ञस्य कः स्पृहेति यावदुपदिशति—

एकोऽहं निर्ममः शुद्धो ज्ञानी योगीन्द्रगोचरः ।
बाह्याः संयोगजा भावा मत्तः सर्वेऽपि सर्वथा ॥ २७ ॥

द्रव्यार्थिकनयादेकः पूर्वापरपर्यायानुस्यूतो निर्ममो ममेदमहमस्येत्यभिनिवेशशून्यः शुद्धः शुद्धनयादेशाद्द्रव्यभावकर्मनिर्मुक्तो ज्ञानी स्वपरप्रकाशनस्वभावो योगीन्द्रगोचरोऽनंतपर्यायविशिष्टतया केवलिनां शुद्धोपयोगमात्रमयत्वेन श्रुतकेवलिनां च संवेद्योऽहमात्मास्मि ये तु संयोगाद्द्रव्यकर्मसंबंधायाता मया सह संबंधं प्राप्ता भावा देहादयोऽस्ते सर्वेऽपि मत्तो मत्सकाशात्सर्वथा सर्वेण द्रव्यादिप्रकारेण बाह्या भिन्नाः सेति पुनर्भाविक

१ सावधनेन । २ पारम्पर्यात् प्राप्तुमृते । ३ निर्मनत्वमपर्वं । ४ प्रवदोऽभमवेदगोचरी ।

एवं विमृशति संयोगात्किमिति देहादिभिः संबंधादेहिनां किं फलं स्यादित्यर्थः । तत्र स्वयमेव समाधत्ते;—

दुःखसंदोहभागित्वं संयोगादिह देहिनाम् ।
त्यजाम्येनं ततः सर्वं मनोवाक्कायकर्मभिः ॥ २८ ॥

दुःखानां संदोहः समूहस्तद्भागित्वं देहिनामिह संसारे संयोगाद्देहादि-संबंधाद्भवेत् । यतश्चैवं तत एनं संयोगं सर्वं निःशेषं त्यजामि । कैः क्रिय-माणं, मनोवाक्कायकर्मभिर्मनोवर्गणावाक्कायवर्गणात्मप्रदेशपरिस्पंदैस्तैरेव त्य-जामि । अयमभिप्रायो मनोवाक्कायान्प्रतिनिवृत्तिर्मानात्मप्रदेशान् मा वतो निरुणद्धि । तद्भेदाभेदाभ्यासमूलत्वात्सुखदुःखैकफलनिर्वृतिनिर्वृत्यो-स्तथा चोक्तं—

" स्वबुद्ध्या यत्तु गृह्णीयात्कायवाक्चेतसां त्रयं ।
संसारस्तावदेतेषां तदाभ्यासेन निर्वृतिः ॥ "

पुनः स एव विमृशति पुद्गलेन किल संयोगस्तदपेक्षामरणादयस्तद्-व्यथाः कथं परिह्रियन्त इति । पुद्गलेन देहात्मना मूर्तद्रव्येण सह किल आगमे श्रूयमाणो जीवस्य संबन्धोऽस्ति तदपेक्षाश्च पुद्गलसंयोगनिमित्त जीवस्य मरणादयो मृत्युरोगादयः संभवंति । तद्यथा मरणादयः संभवंति मरणादिसंबंधिन्यो बाधा । कथ, केन भावनाप्रकारेण मया परि-ह्रियंते । तदभिभवः कथं निवार्यत इत्यर्थः । स्वयमेव समाधत्ते,—

न मे मृत्युः कुतो भीतिर्न मे व्याधिः कुतो व्यथा ।
नाहं बालो न वृद्धोऽहं न युवैतानि पुद्गले ॥ २९ ॥

न मे एकोऽहमित्यादिना निश्चितात्मस्वरूपस्य मृत्युः प्राणत्यागो नास्ति । चिच्छक्तिलक्षणभावप्राणानां कदाचिदपि त्यागाभावात् यतश्च मे मरणं नास्ति ततः कुत कस्मात्मरणकारणात्कृष्णसर्पादिर्भीतिर्भयं मम

१ विचारयति । २ सेवित्वं । ३ देहात्मनः । ४ संयोगापेक्षा । ५ पराभवः ।

स्याम्र कुताश्चिदपि विभर्मात्दर्थः । तथा व्याधिवर्ताादिशेषवैषम्यं मम नास्ति मूर्तसबंधित्वाद्वातादीनां । यतश्चैवं ततः कस्मात् ज्वरादि विकारात् मम व्यथा स्यात्तथा बालाद्यवस्थो नाहमस्मि ततः कथं बालाद्यवस्थाप्रभवैः दुःखैरभिभूयेयं अहमिति सामर्थ्यादत्र द्रष्टव्यं । तर्हि क मृत्युप्रभृतीनि स्युरित्याह—एतानि मृत्युव्याधिबालादीनि पुद्गले मूर्ते देहादावेव संभवन्ति । मूर्तिधर्मत्वादमूर्ते मयि तेषां नितरामसंभवात् । भूयोऽपि भावक एव स्वयमाशङ्कते तदेतान्यासाद्य भुक्तानि पश्चात्तापकारीणि भविष्यतीति यद्युक्तनीत्या भयाद्यो मे न भवेयुस्तर्हि एतानि देहादिवन्नून्यासाद्य जन्मप्रभृत्यात्मात्मीयभावेन प्रतिपद्य भुक्तानीदानीं भेदभावनावष्टंभान्मया त्यक्तानि । चिराभ्यस्ताभेदसंस्कारवशात्पश्चात्तापकराणि किमिर्निमानि मयात्मीयानि त्यक्तानीत्यनुशयकराणि मम भविष्यंति। अत्र स्वयमेव प्रतिषेधमनुध्यायति[1] तन्नेति यतः—

> भुक्तोज्झिता मुहुर्मोहान्मया सर्वेऽपि पुद्गलाः ।
> उच्छिष्टेष्विव तेष्वद्य मम विज्ञस्य का स्पृहा ॥ ३० ॥

मोहादविद्यावेशवशादनादिकालं कर्मादिभावेनोपादाय सर्वे पुद्गलाःमया संसारिणा जीवेन बारं बारं पूर्वमनुभुताः पश्चाच्च नीरसीकृत्य त्यक्ता यतश्चैवं तत उच्छिष्टेष्विव भोजनगंधमाल्यादिषु स्वयं भुक्त्वा त्यक्तेषु यथा लोकस्य तथा मे संप्रति विज्ञस्य तत्त्वज्ञानपरिणतस्य तेषु फेलोकल्पेषु पुद्गलेषु का स्पृहा ? न कदाचिदपि । वत्स ! त्वया मोक्षार्थिना निर्ममत्वं विचिंतयितव्यं । अत्राह शिष्यः । अथ कथं ते निबध्यंत इति । अथेति प्रश्ने केन प्रकारेण पुद्गला जीवेन नियतमुपादीयंते इत्यर्थः । गुरुराह—

> कर्म कर्महिताबन्धि जीवो जीवहितस्पृहः ।
> स्वस्वप्रभावभूयस्त्वे स्वार्थं को वा न वांछति ॥ ३१ ॥

१ दुःखितो भवामि । २ करोति । ३ उच्छिष्टः । ४ निश्चित । ५ बहुतरत्वे ।

" कत्थवि बलिओ जीवो कत्थवि कम्माइ हुंति बलियाइ
जीवस्स य कम्मस्स य पुव्वविरुद्धाइ वइराइ ॥ " इत्यभिधानात्पूर्वो-
पार्जितं बलवत्कर्म कर्मणः स्वस्यैव हितमादधाति जीवस्यौदयिकादिभा-
वमुद्भाव्य नवनवकर्माधायकत्वेन स्वसंतानं पुष्णातीत्यर्थः । तथाचोक्तं—

" जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये ।
स्वयमेव परिणमंतेऽत्र पुद्गलाः कर्मभावेन ॥ १ ॥
परिणममानस्य चिदश्चिदात्मकैः स्वयमपि स्वकैर्भावैः ।
भवति हि निमित्तमात्रं पौद्गलिकं कर्म तस्यापि ॥ २ ॥

तथा जीवः कालादिलब्ध्या बलवानात्मा जीवस्य स्वस्यैव हितमनंत-
सुखहेतुत्वेनोपकारकं मोक्षमाकांक्षति । अत्र दृष्टांतमाह-स्वस्येत्यादि
निजनिजमाहात्म्यबहुतरत्वे सति स्वार्थं स्वस्योपकारकं वस्तु को न वांछति
सर्वोऽप्यभिलषतीत्यर्थः । ततो विद्धि कर्मविद्धो जीवः कर्म संचिनोतीति ।
यतश्चैवं ततः—

परोपकृतिमुत्सृज्य स्वोपकारपरो भव ।
उपकुर्वन्परस्याज्ञो दृश्यमानस्य लोकवत् ॥ ३२ ॥

परस्य कर्मणो देहादेर्वा अविद्यावशात् क्रियमाणमुपकारं विद्याभ्यासेन
त्यक्त्वात्मानुग्रहप्रधानो भव त्वं । किं कुर्वन्सन्, उपकुर्वन् । कस्य, परस्य
सर्वथा स्वस्माद्बाह्यस्य दृश्यमानस्येन्द्रियैरनुभूयमानस्य देहादेः । किंविशिष्टो
यस्त्वं अज्ञस्तत्त्वानभिज्ञः । किंवल्लोकवत् । यथा लोकः परं परत्वेनाजानं-
स्तस्योपकुर्वन्नपि तं तत्त्वेन ज्ञात्वा तदुपकारं त्यक्त्वा स्वोपकारपरो भवत्येवं
त्वमपि भो तत्त्वज्ञ । अत्राह शिष्यः । कथं तयोर्विशेष इति येनासौ
स्वपरयोर्भेदो विज्ञायते । तद्विज्ञातुश्च किं स्यादिति वदेति । गुरुराह,-

गुरूपदेशादभ्यासात्संवित्तेः स्वपरान्तरं ।
जानाति यः स जानाति मोक्षसौख्यं निरंतरम् ॥ ३३ ॥

यो जानाति । किं तत्स्वपरान्तरं आत्मपरयोर्भेदं यः स्वात्मानं परस्माद्भिन्नं पश्यतीत्यर्थः । कुतः संवित्तेर्लक्षणतः स्वलक्षणानुभवात् । एषोपि कुतः, अभ्यासात् अभ्यासभावनातः । एषोऽपि गुरूपदेशात् धर्माचार्यस्यात्मनश्च सुदृढ-स्वपरविवेकज्ञानोत्पादकवाक्यात् स तथान्योपोढस्वात्मानुभविता मोक्षसौख्यं निरंतरमविच्छिन्नमनुभवति । कर्मविविक्तानुभाव्यविनाभावित्वात्तस्य । तथा चोक्तं तत्त्वानुशासने,—

"तमेवानुभवंश्चायमेकाग्र्यं परमृच्छति ।
तथात्माधीनमानंदमतिवाचामगोचरम् । इत्यादि ॥"

अथ शिष्यः पृच्छति–कस्तत्र गुरुरिति तत्र मोक्षसुखानुभवविषये ।

गुरुराह,—

स्वस्मिन्सदभिलाषित्वादभीष्टज्ञापकत्वतः ।
स्वयं हितप्रयोक्तृत्वादात्मैव गुरुरात्मन ॥ ३४ ॥

यः खलु शिष्यः सदा अभीक्ष्णं कल्याणमभिलषति तेन जिज्ञास्य तदुपायं तं ज्ञापयति तत्र चाप्रवर्त्तमान तं प्रवर्त्तयति स किल गुरुः प्रसिद्धः । एवं च सत्यात्मनः आत्मैव गुरुः स्यात् । कुत इत्याह–स्वयमात्मना स्वस्मिन्मोक्षसुखाभिलाषिण्यात्मनि सत् प्रशस्तं मोक्षसुखमभीक्ष्णमभिलषति । मोक्षसुखं मे संपद्यतामित्याकांक्षतीत्येवं ममात् । तथाभीष्टस्यात्मना जिज्ञा-स्यमानस्य मोक्षसुखोपायस्यात्मविषये ज्ञापकत्वादेष मोक्षसुखोपायो मया सेव्य इति बोधकत्वात् । तथाहि तं मोक्षसुखोपाये स्वयं स्वस्य प्रयोक्तृ-त्वात् । अस्मिन्सुदुर्लभे मोक्षसुखोपाये दुरात्मन्नात्मन्स्वयमद्यापि न प्रवृत्तः इति । तत्रावर्त्तमानस्यात्मनः प्रवर्त्तकत्वात् । अथ शिष्यः साक्षेपमाह । एवं नान्योऽस्ति प्राप्नोतीति भगवच्छुकनीत्या परस्परगुरुत्वे निश्चिते सति

१ पुरुषः । २ परमभिन्न । ३ इतुमिव । ४ अनुभवितुं बांछितस्य ।
५ आत्मानं ।

धर्माचार्यादिसेवनं प्राप्नोति मुमुक्षुं । मुमुक्षुणा धर्माचार्यादिः सेव्यो न भवतीति भावः । न चैवमेतदिति वाच्यमपसिद्धांतप्रसंगादिति वदंतं प्रत्याह;—

नाज्ञो विज्ञत्वमायाति विज्ञो नाज्ञत्वमृच्छति ।
निमित्तमात्रमन्यस्तु गतेर्धर्मास्तिकायवत् ॥ ३५ ॥

भद्र ! अज्ञस्तत्त्वज्ञानोत्पत्त्ययोग्योऽभव्यादिर्विज्ञत्वं तत्त्वज्ञत्वं धर्माचार्याद्युपदेशसहस्रेणापि न गच्छति । तथाचोक्तं—

"स्वाभाविकं हि निष्पत्तौ क्रियागुणमपेक्ष्यते ।
न व्यापारशतेनापि शुकवत्पाठ्यते बकः ॥"

तथा विज्ञस्तत्त्वज्ञानपरिणतो अज्ञत्वं तत्त्वज्ञानात्परिभ्रंशमुपायसहस्रेणापि न गच्छति । तथाचोक्तं—

"वज्रे पततयपि भयद्रुतविश्वलोके
मुक्ताध्वनि प्रशमिना न चलंति योगात् ।
बोधप्रदीपहतमोहमहान्धकाराः
सम्यग्दृशः किमुत शेषपरीषहेषु ॥"

नन्वेवं बाह्यनिमित्तक्षेपः प्राप्नोतीत्यत्राह । अन्यः पुनर्गुरुविपक्षादिः प्रकृतार्थसमुत्पादभ्रंशयोर्निमित्तमात्रं स्यात्तत्र योग्यताया एव साक्षात्साधकत्वात् । कस्याः को यथेत्यत्राह गतेरित्यादि । अयमर्थो यथा युगपद्भाविगतिपरिणामोन्मुखानां भावानां स्वकीया गतिशक्तिरेव गतेः साक्षाज्जनिका तद्वैकल्ये तस्याः केनापि कर्तुमशक्यत्वात् । धर्मास्तिकायस्तु गत्युपग्राहकद्रव्यविशेषस्तस्याः सहकारिकारणमात्रं स्यादेवं प्रकृतेऽपि अतो व्यवहारादेव गुर्वादिः शुश्रूषया प्रतिपत्तव्या । अथाह शिष्यः । अभ्यासः कथमिति । अभ्यासप्रयोगोपायप्रश्नोऽयं । अभ्यासः कथ्यत इति वचि-

१ अस्थिरेषु । २ सामर्थ्येन ।

अतो विषयारुचिरेव योगिनः स्वात्मसंवित्तेर्गमिका तदभावे तदभावात् प्रकृष्यमाणायां च विषयारुचौ स्वात्मसंवित्तिः प्रकृष्यते । तद्यथा—

यथा यथा न रोचंते विषयाः सुलभा अपि ।
तथा तथा समायाति संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम् ॥ ३८ ॥

अत्रापि पूर्ववद्व्याख्यानं । तथा चोक्तम्—

" विरम किमपरेणाकार्यकोलाहलेन
स्वयमपि निभृतः सन्पश्य षण्मासमेकं ।
हृदयसरसि पुंसः पुद्गलाद्भिन्नधाम्नो
ननु किमनुपलब्धिर्भाति किंचोपलब्धिः ॥ "

प्रकृष्यमाणायां च स्वात्मसंवित्तौ यानि चिह्नानि स्युस्तान्याकर्णय । यथा—

निशामयति निःशेषमिंद्रजालोपमं जगत् ।
स्पृहयत्यात्मलाभाय गत्वान्यत्रानुतप्यते ॥ ३९ ॥

योगीत्यत्रदीपकत्वात्सर्वत्र या [illegible] । स्वात्मसंवित्तिरसिको ध्याता चराचरं बहिर्वस्तुजातमवश्यो[illegible]धीर्णीयतया हानोपादानबुद्धिविषयत्वादिंद्रजालिकोपदर्शितसर्पहारादिपदार्थसार्थसदृशं पश्यति । तथात्मलाभाय स्पृहयति चिदानंदस्वरूपमात्मानं संवेदयितुमिच्छति । तथा अन्यत्र स्वात्मव्यतिरिक्ते यत्र क्वापि वस्तुनि पूर्वसंस्कारादिवशात्मनोवाक्कायैर्गत्वा व्यावृत्य अनुतप्यते स्वयमेव आः कथं मयेदमनात्मीनमनुष्ठितमिति पश्चात्तापं करोति । तथा,—

इच्छत्येकांतसंवासं निर्जनं जनितादरः ।
निजकार्यवशात्किंचिदुक्त्वा विस्मरति द्रुतं ॥ ४० ॥

एकांते स्वभावतो निर्जने गिरिगह्वरादौ संवासं गुर्वादिभिः सहावस्थान-

१ [illegible] । २ [illegible] । ३ [illegible]
४ [illegible] । ५ [illegible] । ६ [illegible] । ७ [illegible]

नमिटयति । किं विशिष्टः सन्, जनितादरो जनमनोरंजनचमत्कारि मंत्रादि प्रयोगवार्तानिर्वृत्तौ कृतप्रयत्नः । कस्मै निर्जनं जनाभावाय स्वार्थलाभालाभादि प्रश्नार्थं लोकप्रसंसर्पतं निषेधमित्यर्थः । ध्यानाद्धि लोकचमत्कारिणः प्रत्ययाः स्युः । तथा चोक्तं,—

"गुरूपदेशमासाद्य समभ्यस्यन्ननारतं ।
धारणा सौष्ठवाद्ध्यानप्रत्ययानपि पश्यति ॥"

तथा स्वसंवादकं कपर्दिकाभोजनादिपारतन्त्र्यात्किंचिदल्पमसमयं श्रावकादिकं प्रति अहो इति अहो इदमिति अहो इदं कुर्वन्नित्यादि भाषित्वा तत्क्षण एव विस्मरति । भगवन् किमादिश्यत इति श्रावकादौ पृच्छति सति न किमप्युत्तरं ददाति । तथा,—

ब्रुवन्नपि हि न ब्रूते गच्छन्नपि न गच्छति ।
स्थिरीकृतात्मतत्त्वस्तु पश्यन्नपि न पश्यति ॥ ४१ ॥

स्थिरीकृतात्मतत्त्वो दृढप्रतीतिगोचरीकृतस्वस्वरूपो योगी संस्कारवशात्परोपरोधेन ब्रुवन्नपि धर्मादिकं भाषमाणोऽपि न केवलं योगेन तिष्ठति अपिशब्दार्थः । न ब्रूते हि न भाषत एव । तत्राभिमुख्याभावात् । उक्तं च—

"आत्मज्ञानात्परं कार्यं न बुद्धौ धारयेच्चिरं ।
कुर्यादर्थवशात्किंचिद्वाक्कायाभ्यामतत्परः ॥"

तथा भोजनार्थं व्रजन्नपि न व्रजत्यपि । तथा सिद्धप्रतिमादिकमवलोकयन्नपि नावलोकयत्येव । सुरेवार्थः । तथा—

किमिदं कीदृशं कस्य कस्मात्क्वेत्यविशेषयन् ।
स्वदेहमपि नावैति योगी योगपरायणः ॥ ४२ ॥

इदमध्यात्ममनुभूयमानं तत्त्वं किं किंरूपं कीदृशं केन सदृशं कस्य स्वामिकं कस्मात्कस्य सकाशात्क्व कस्मिन्नस्तीत्यविशेषयन् अविकल्पयन्सन्

१ आगच्छन् । २ चेष्टावत् । ३ आत्मज्ञानीयो । ४ पराधीनतया ।

योगसारज्ञः समरसीभावमापन्नो योगी स्वदेहेऽपि न चेतयति का कथा हिताहितदेहादिचेतनोपेतानाम् । तथा चोक्तं—

"तदा च परमैकाग्र्याद्बहिरर्थेषु सत्स्वपि ।
अन्यन्न किंचनाभाति स्वमेवात्मनि पश्यतः ॥"

अत्राह शिष्यः—कथमेतदिति । भगवन् विस्मयो मे कथमेतद्दृश्यते संभवति । गुरुराह धीमानेवम्

यो यत्र निवसन्नास्ते स तत्र कुरुते रतिम् ।
यो यत्र रमते तस्मादन्यत्र स न गच्छति ॥ ४३ ॥

[illegible]

[illegible] ॥ ४४ ॥

[illegible]

[illegible]

तथा आत्मा आत्मैव स्यात् । तस्य कदाचिदपि देहादिरूपत्वानुपादान
यतश्चैवं ततस्तस्मात्सुस्थं स्याद्दुःखनिमित्तानां तस्याविषयत्वात् । यतश्चैवं
एव महात्मानस्तीर्थकरादयस्तन्निमित्तमिमितमात्मार्थं कृतोपमा विविहितता
नुष्ठानाभियोगाः संजाताः । अथ परद्रव्यानुरागो दोषं दर्शयति,—

अविद्वान्पुद्गलद्रव्यं योऽभिनंदति तस्य तत् ।
न जातु जंतोः सामीप्यं चतुर्गतिषु मुंचति ॥ ४६ ॥

यः पुनरविद्वान् हेयोपादेयतत्त्वानभिज्ञः पुद्गलद्रव्यं देहादिकमभिनंदति
श्रद्धत्ते आत्मात्मीयभावेन प्रतिपद्यते तस्य जंतोर्जीवस्य तत्पुद्गलद्रव्यं
चतसृषु नारकादिगतिषु सामीप्यं प्रत्यासत्तिं संयोगसंबंधं जातु कदाचिदपि
न त्यजति । अथाह शिष्यः—स्वरूपपरस्य किं भवतीति सुगमं । गुरुराह—

आत्मानुष्ठाननिष्ठस्य व्यवहारबहिःस्थितेः ।
जायते परमानंदः कश्चिद्योगेन योगिनः ॥ ४७ ॥

आत्मनोऽनुष्ठान देहादेर्व्यावर्त्य स्वात्मन्येवावस्थापनं तत्परस्य व्यवहारा-
त्प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणाद्बहिःस्थितेः बाह्यस्य योगिनो ध्यातुर्योगेन स्वात्मध्या-
नेन हेतुना कश्चिद् वाचागोचरः परमोऽनन्यसमवी आनंद उत्पद्यते ।
तत्कार्यमुच्यते—

आनंदो निर्दहत्युद्धं कर्मेंधनमनारतं ।
न चासौ खिद्यते योगी बहिर्दुःखेष्वचेतनः ॥ ४८ ॥

स पुनरानंद उद्धं प्रभूतं कर्मसंततिं निर्दहति । वह्निरिंधने यथा । किं च
असावानंदाविष्टो योगी बहिर्दुःखेषु परीषहोपसर्गक्लेशेषुअचेतनोऽसंवेदनः
स्यात्तत एव न खिद्यते न संक्लेशं याति । यस्मादेवं तस्मात्—

अविद्याभिदुरं ज्योतिः परं ज्ञानमयं महत् ।
तत्प्रष्टव्यं तदेष्टव्यं तद्द्रष्टव्यं मुमुक्षुभिः ॥ ४९ ॥

---

१ आत्मनः । २ आप्रा ।

मध्याह्ने तु सितान् दीनान् भोजनाद्यैर्भिरादरात् ।
अनुगृह्णन्यति· संघपूजनीयो भवेत्सदा ॥ ४१ ॥

वरं स्वहस्तेन कृतः पाको नान्यत्र दुर्दृशाम् ।
मन्दिरे भोजनं यस्मात्सर्वसावद्यसंगमः ॥ ४२ ॥

पिच्छेन मृदुनाऽऽलिख्य वपुर्धर्मार्द्रितोन्मुनिः ।
छायां तथैव घर्मं च भूमिभेदापि चान्यहम् ॥ ४३ ॥

पुनरोधे पशनो न पंचनाऽऽसमशोषणं ।
सावद्यकर्मण्यन्यस्मिन् वर्तमाने च मन्दिरे ॥ ४४ ॥

न त्रिशुद्धासनं कर्तुं प्रविश्य च तदंगणे ।
मुनिर्न पीठादिदानं [illegible] ॥ ४५ ॥

[illegible] ।
[illegible] ॥ ४६ ॥

[illegible]
[illegible] ॥ ४७ ॥

तस्मै दानं प्रदातव्यं यः सन्मार्गं प्रवर्तते ।
पार्श्वस्थादिभ्यो दत्तं दानं वृथा मिथ्यात्ववर्धकः ॥ ४८ ॥

जीर्णं जिनगृहं बिंबं पुस्तकं च सुदर्शनम् ।
उद्धार्य स्थापनं पूर्वपुण्यतो [illegible] ॥ ४९ ॥

[illegible] जिनकर्मकम् ।
न [illegible] ॥ ५० ॥

[illegible]
[illegible]

यच्छास्त्रं रचितं नूनं तद्देयाऽऽदेयमन्यकैः ।
विसंघ्यै रचितं नैव प्रमाणं साध्वपि स्फुटम् ॥ ७१ ॥

पूर्वाचार्यवचः श्रीमत्सर्वज्ञवचनोपमम् ।
तज्ज्ञानसनगारोऽत्र पूज्यः स्याद्दिग्विलैर्जनैः ॥ ७२ ॥

विसंघ्यैः सममध्यात्ममायश्चित्तविधिक्रियाः ।
सिद्धान्ताचारभावाश्च नाऽऽलोच्या यतिना सदा ॥ ७३ ॥

द्रव्यलिंगं समास्थाय भावलिंगी भवेद्यतिः ।
विना तेन न पूज्यः स्यान्नानाव्रतधरोऽपि सन् ॥ ७४ ॥

अचेलत्वं शिरः कूर्चलोचोऽधः केशधारणम् ।
निराभरणताऽछिन्नदेहता पिच्छधारणम् ॥ ७५ ॥

द्रव्यलिंगमदो ज्ञेयं भावलिंगस्य कारणम् ।
तदध्यात्मकृतं स्पष्टं न नेत्रविषयं यतः ॥ ७६ ॥

मुद्रा सर्वत्र मान्या स्यान्निर्मुद्रो नैव मन्यते ।
राजमुद्राधरात्यंतहीनवच्छास्त्रनिर्णयः ॥ ७७ ॥

स्थावरं देहभेदेन व्रतभेदेन लिंगिनम् ।
उभयोर्भिन्नलिंगत्वान्नार्चयेन्नाभिवन्दयेत् ॥ ७८ ॥

येन येन हि कृत्येन धर्मवृद्धिः प्रजायते ।
तत्तत्कुर्वन्मुनिर्मान्यो भवेदत्र न संशयः ॥ ७९ ॥

आगते स्वागतं कुर्याद्गच्छन्तं न निवारयेत् ।
तिष्ठन्तं कारयेद्भिक्षामेष धर्मः सनातनः ॥ ८० ॥

पिच्छपुस्तकपट्टादीन् याचयित्वा परस्परम् ।
ग्रहणं न विना याञ्चामेष धर्मः सनातनः ॥ ८१ ॥

---

१ "व्रतभंगेनेति" "क" पुस्तके पाठः । २ भ्रामयेदिति "क" पुस्तके पाठः ।

गुरून्विलोक्य सहसा समुत्थानं तथा नतिः ।
अनुकूलप्रवृत्तिश्च सर्वधर्मशिरोमणिः ॥ ८२ ॥
गुरुणा दीयमानानि वस्तूनि बहुमानतः ।
पाणिद्वयेन संगृह्य पुनरप्यभिवन्दयेत् ॥ ८३ ॥
दीक्षादाताऽध्यापयिता कृताचार्यादिवाचनः ।
दोषच्छेदी कृतांतार्थो गुरुरित्यभिधीयते ॥ ८४ ॥
यो यो गुणाधिको मूलगणगच्छाद्यलंकृतः ।
स सर्वोप्युच्यते जैनैर्गुरुरित्युज्झितस्मयैः । ८५ ॥
कांचित्कालानुसारेण सूरिर्द्रव्यमुपाहरेत् ।
संघपुस्तकवृद्ध्यर्थमयाचितमथाल्पकम् ॥ ८६ ॥
पार्श्वस्थवृत्तितां नैवालंबेताऽऽलंबनोज्झितः ।
न दैन्यं दर्शयेल्लोके प्राणत्यागेऽपि चात्मनः ॥ ८७ ॥
क्षुत्कार्श्यं मलिनाङ्गत्वं यतेर्भूषणमंजसा ।
न तेन लज्जते योगी पवित्रतरमानसः ॥ ८८ ॥
मनः शुद्धं भवेद्यस्य सः शुद्ध इति भाष्यते ।
विना तेन कृतस्नानोऽप्यंगी नैव विशुद्ध्यति ॥ ८९ ॥
कार्याकार्यविचारज्ञः सर्वभाषाविशारदः ।
सर्वशास्त्रार्थवित्साधुर्धर्मस्य प्रतिपादकः ॥ ९० ॥
सगुणो निर्गुणो वाऽपि श्रावको मान्यते सदा ।
नावज्ञा क्रियते तस्य तन्मूला धर्मवर्तना ॥ ९१ ॥
विसंधभक्ता भक्त्या चेद्दानं यच्छन्ति योगिने ।
भाण्डभाजनशुद्धिश्चेन्न निषेधोऽस्ति कश्चन ॥ ९२ ॥

१ "समुत्थाय नमनानि" इति "ख" पुस्तके पाठः । २ [illegible] ३ [illegible] । ४ अयं श्लोकः "ख" पुस्तके नास्ति । ५ [illegible]

भांडमाभनशुद्धोऽपि पाखंडी यो विनिन्दकः।
यतेस्तत्र न भोक्तव्यं तद्दत्तं पापमुच्यते ॥ ९३ ॥
न योषित[1]स्पृशेद्योगी काष्ठचित्रकृता अपि।
किं पुनः स्पर्शनं तासां यासां स्मरणमापदे ॥ ९४ ॥
पंचचेलविनिर्मुक्ता ग्रन्थमुक्ता मताः सताम्।
न ते सुवर्णरूप्यादि स्पृशन्ति गुरुसंयमाः ॥ ९५ ॥
मुखशुद्धिं न कुर्वन्ति नोपविश्य च भोजनम्।
संघेन सह कुर्वन्ति नापेक्षन्ते च किंचन ॥ ९६ ॥
चित्रस्थामपि संस्पृश्य योषितं नैव भुंजते।
तस्मिन्नहनि भुक्तं चेत् षष्ठे स्यात्पापनाशनम् ॥ ९७ ॥
पाखंडा यत्र संजाता जिह्वोपस्थादिदंडिताः।
ते सर्वे पापिनस्तस्माद्ब्रह्मचर्यं धरेद्यतिः ॥ ९८ ॥
संघापकारिणं मूढं संघबाह्यं प्रकल्पयेत्।
अहिदष्टांगुलिर्यस्य सर्वनाशाय जायते ॥ ९९ ॥
सम्यग्दर्शनशुद्धानां तपसाऽल्पेन जायते।
कर्मक्षयस्ततो नूनं तदेव प्रतिपालयेत् ॥ १०० ॥
सम्यक्त्वमूलं सर्वं स्याज्ज्ञानचारित्रमेव वा।
विना तेनाऽपरं नैव कुर्यातां मोक्षसाधनम् ॥ १०१ ॥
प्रतिक्रमादिवेलायां यदि प्राप्येत तस्यतः।
चतुर्दश्यष्टमी वा वै तदा सैव प्रशस्यते ॥ १०२ ॥

---

१ "क" पुस्तके भांडमुक्ता इति पाठ. २ "क" पुस्तके मूर्द्धतांनि पाठः ३ "क" "ख" पुस्तकयोः "षष्ठे" इति पाठः परन्त्वत्र "षष्ठं" इति युज्यते ४ "ते सर्वेऽप्यनर्थं तस्मात्" इति "क" पुस्तके पाठ. । ५ "ख" पुस्तके "वाम" इति स्थाने पुंस इति पाठ –अत्र "वा" शब्दो इवार्थे।

यद्यद्बहुतरं तत्तत्सर्वत्र बलवद्यथा ।
तथा चतुर्दशीमुख्यतिथीनामपि सङ्क्रमः ॥ १०३ ॥

अधिका तिथिरादिष्टा धर्मकार्येषु सत्तमा ।
आदिमध्यान्तभेदेन शक्तिस्तथापि दीयते ॥ १०४ ॥

जिनजन्मादिकाः सर्वाः क्रिया मासतिथिक्रमाः ।
नक्षत्रयोगकरणं न प्रधानं यतालम् ॥ १०५ ॥

षष्टीचतुष्टये रात्रेः कुर्यात्पूर्वाह्णवन्दनाम् ।
मध्याह्नस्याऽपि नियमो नाडीद्वयगुणाहतम् ॥ १०६ ॥

अपराह्ने तु नाडीनां चतुष्टयसमाहितः ।
नवाश्वर[illegible]सामायिकपरिमितम् ॥ १०७ ॥

या क्रिया क्रियते यत्र तिथौ सा तत्र सम्मता ।
[illegible] ॥ १०८ ॥

[illegible] ।
[illegible] ॥ १०९ ॥

[illegible] ।
[illegible] ॥ ११० ॥

[illegible] ।
[illegible] ॥ १११ ॥

[illegible]
[illegible] ॥ ११२ ॥

स्रग्धरावृत्तम्

माद्यन्नत्यर्थिवादिद्विरदपटुघटाटोपकोपापनोदा

धार्णा यस्याऽभिरामा मृगपतिपदवीं गाहते देवमान्या ।

सः श्रीमानिन्द्रनन्दी जगति विजयतां भूरि भावानुभावी

दैवज्ञ कुन्दकुन्दप्रभुपदविनयः स्वागमाचारचंचुः ॥११३॥

इति श्रीभट्टारक इन्द्रनन्दिप्रणीतः श्रीनीतिसारः समाप्तिं प्रकाण।

इति नीतिसारः ।

मोक्ष-पंचाशिका ।

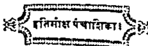


ज्ञानदर्शनचारित्रतपसां संहतिश्च या ।
सम्यक्रूपदोपसंसृष्टा मोक्षमार्गः प्रकीर्तितः ॥ १ ॥
गुणपर्ययतादात्म्यविशिष्टस्यैव धर्मिणः ।
वैशिष्ट्ययुक्तं ग्रहणं ज्ञानं साकारमुच्यते ॥ २ ॥
मुख्यत्वे धर्ममात्रस्य गौणत्वे धर्मिणस्तथा ।
अनाकारं दर्शनं तत्कीर्तितं मुनिपुङ्गवैः ॥ ३ ॥
संशयश्च विपर्यासोऽनध्यासश्च भवेत्त्रिधा ।
दोषस्तेन विनिर्मुक्तं ज्ञानं सम्यक्प्रचक्षते ॥ ४ ॥
अनवस्थितकोटीनामेकत्र परिकल्पनाम् ।
शुक्ति वा रजतं किं वेत्येवं सशीतिलक्षणम् ॥ ५ ॥
विरुद्धकोटिसंस्पर्शी व्यवसायो विपर्ययः ।
शुक्तौ रजतबुद्धिः सा विपर्यासो भ्रमोऽपि च ॥ ६ ॥
विशिष्टस्य विशेषाणामस्य च स्वेन वेदनम् ।
गच्छतस्तृणसंस्पर्श इवानध्यास इष्यते ॥ ७ ॥
गुणपर्ययतादात्म्यविशिष्टं द्रव्यमुच्यते ।
उत्पत्तिव्ययनैयत्यं पर्यायास्तस्य शाश्वताः ॥ ८ ॥
भूतं वाऽपि भविष्यं च भवतीति विनिश्चितम् ।
यदतीतं विनष्टं तदागाम्युत्पादलक्षणम् ॥ ९ ॥
वर्तमानं ध्रुवं प्रोक्तमेवं द्रव्येषु पर्ययाः ।
उत्पद्यंते विलीयंते तरंगा इव पाथसि ॥ १० ॥
उत्पादव्ययनैयत्यं नैतत्कालस्य कल्पना ।
यतः स वर्तनारूपोऽन्यस्यान्तरनिबंधनम् ॥ ११ ॥
पूर्वक्षणादुत्तरस्य भिन्नावस्थां करोति सः ।
तेनारूपिषु शुद्धेषु न तस्य गतिरिष्यते ॥ १२ ॥

स्वयं सिद्धं मतं द्रव्यं गुणास्तत्सत्यर्सिनः।
तथाव्यावर्त्तकाः केचित्केचिद्व्यावृत्तिहेतवे ॥ १३ ॥
अतिव्याप्तिस्तथाऽव्याप्तिरसंभव इति त्रिधा।
दोषस्तेन विनिर्मुक्तो गुणो व्यावर्तकः स्मृतः ॥ १४ ॥
अलक्ष्ये वर्त्तनं प्राहुरतिव्याप्तिं बुधा यथा।
गुण आत्मन्यरूपित्वमाकाशादिषु दृश्यते ॥ १५ ॥
लक्ष्यैकदेशावर्तित्वमव्याप्तिः कीर्तिता बुधैः।
यथा जीवस्य देहत्वमसिद्धं परमात्मनि ॥ १६ ॥
लक्ष्ये त्वनुपपन्नत्वमसंभव इतीरितः।
यथा वर्णादियुक्तत्वमसिद्धं सर्वथात्मनि ॥ १७ ॥
एतद्दोषत्रयातीतं हि व्यावृत्त्यै हि लक्षणम्।
मवेदुपयोगो जीवस्य मूर्त्तत्वं पुद्गलस्य वा ॥ १८ ॥
क्रमवृत्तास्तु पर्याया अवस्थाभेद एव ते।
केचिद्द्रव्याश्रयाः केचिद्गुणनिष्ठा इति द्विधा ॥ १९ ॥
नरामराद्यो जन्तोः स्कंधदेशादयो परे।
उभयोर्ज्ञानवर्णाद्या द्विधेव पर्यया मताः ॥ २० ॥
शुद्धाशुद्धा इमे प्रोक्ताः सिद्धाः संसारिणस्तथा।
केवलं वाथ मत्यादि कीर्तितं मुनिपुंगवैः ॥ २१ ॥
स्वान्यभेदाद् द्विधा वा ते निजावरणकर्मणां।
क्षयोपशमसंभूता क्षयाद्वा धृतिरात्मनः ॥ २२ ॥
केवलिप्रज्ञया तस्या अवन्योऽंशास्तु पर्य्ययः।
तदानंत्येन निष्पन्ना सा धृतिर्निजपर्य्ययाः ॥ २३ ॥
षट्स्थानपतिताश्चाद्याः केवलं तु क्षयोद्भवम्।
तेन तत्पर्ययास्तुल्याः सदावस्थितरूपिणः ॥ २४ ॥
क्षयोपशमवैचित्र्यं ज्ञेयवैचित्र्यमेव वा।
जीवस्य परपर्यायाः षट्स्थानपतिता अमी ॥ २५ ॥

[illegible] गु[illegible] [illegible] कान्पते ।
[illegible] पर्यया ॥ २६ ॥
[illegible] [illegible] ।
[illegible] न ॥ २७ ॥
[illegible] [illegible]तुलम ।
[illegible] पृथ्या [illegible] ॥ २८ ॥
[illegible] [illegible]भया ।
[illegible] ॥ २९ ॥
[illegible] मन ।
[illegible] ३०
[illegible]
[illegible] [illegible]कम । ३१ ॥
[illegible]
[illegible] मन ३२ ।
[illegible]
[illegible] ३३ ।
[illegible]
[illegible] ३४ ।
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible] ३६ ।
[illegible]
[illegible]
[illegible] ३८ ।

तत्पदं तु परामर्शात्मसात्म्यानि सूचयेत् ।
तत्साधारणो धर्मस्त्वन्यदान्येन प्रकीर्तितः ॥ ३९ ॥
सर्वेषामेव भावानां स्वात्मार्थं भाव एव हि ।
तं विना सर्ववस्तूनां स्वस्वरूपाविनिश्चयात् ॥ ४० ॥
रसवत्वो यथा भोज्यं स्वयं स्यादात्मके विना ।
एवं वस्तूनि सर्वाणि सुधा चेतनमन्तरा ॥ ४१ ॥
तस्य व्यामोहसंदीप्तिविपर्यासविवर्जिता ।
स्वयमेव प्रतीतिर्या श्रद्धा सा कीर्तिता बुधैः ॥ ४२ ॥
एवं श्रद्धावतो जन्तो भवरूपेन्दुर्वीक्षणे ।
आत्मानुभवविस्फूर्तोदानन्दो दर्शनं मतम् ॥ ४३ ॥
तत्रात्मरतताभ्यासश्चारित्रं निश्चयात्मकम् ।
कर्मोपचयहेतूनां निरोधो व्यवहारतः ॥ ४४ ॥
निराकुलत्वजं सौख्यं स्वयमेवावतिष्ठतः ।
यदात्मनैव संवेद्यं चारित्रं निश्चयात्मकम् ॥ ४५ ॥
अगोचरं तदक्षसामक्षसौख्यातिरेकभाक् ।
न भयं न स्पृहा यत्र चारित्रं निश्चयात्मकम् ॥ ४६ ॥
आत्मनो निर्विकारस्य कृतकृत्यत्वधीश्च या ।
उत्साहो वीर्यमिति तत्कीर्तितं मुनिपुंगवैः ॥ ४७ ॥
तस्माद्वीर्यसमुद्रेकादिच्छारोधस्तपो विदुः ।
बाह्यं वाक्कायसंभूतमान्तरं मानसं स्मृतं ॥ ४८ ॥
एतत्तदुभयं मार्गः समुदाये विनिश्चितः ।
तमाराध्य गताःपूर्णं निर्वृतिं मुनिसत्तमाः ॥ ४९ ॥
सम्यग्विचिन्तयेद्यस्तु मोक्षपंचाशिकामिमाम् ।
अभ्यस्यन्नात्मनो रूपं विकारेभ्यो निवर्त्तते ॥ ५० ॥



श्रुतावतारः ।

सर्वनाकीन्द्रवन्दितकल्याणपरंपरं देवं ।
प्रणिपत्य वर्धमानं श्रुतस्य वक्ष्येऽहमवतारम् ॥ १ ॥
यद्यप्यनाद्यनिधनं श्रुतं तथाऽप्यत्र तन्निभेन मया ।
कालाश्रयेण तस्योत्पत्तिविनाशौ प्रवक्ष्येते ॥ २ ॥
भरतेऽस्मिन्नवसर्पिण्युत्सर्पिण्याह्वयौ प्रवर्त्तेते ।
कालौ सदाऽपि जीवोत्सेधायुर्ह्रासवृद्धिकरौ ॥ ३ ॥
एकैकस्य पृथग्दशकोटीकोट्यः प्रमाणमुद्दिष्टम् ।
वार्ध्युपमानावेतौ समाश्रितौ भवति कल्प इति ॥ ४ ॥
तत्रावसर्पिणीयं प्रवर्तमाना भवेत्समाऽस्याश्च ।
कालविभागाः प्रोक्ताः षडेव कालप्रभेदज्ञैः ॥ ५ ॥
सुषमसुषमाह्वयाद्या सुषमाऽन्या सुषमदुःषमेत्यपरा ।
दुष्षमसुषमान्या दुष्षमाऽतिपूर्वा पराऽस्यैव ॥ ६ ॥
तत्र क्रमाच्चतस्रस्तिस्रो द्वे सागरोपमाख्यानाम् ।
कोटीकोट्यस्तिसृणामाद्यानां भवति परिमाणम् ॥ ७ ॥
कोटीकोटीवर्षसहस्रैर्द्विचत्वारिंशताभिहीना ।
त्रिगुणैरम्भोधीनां परिमाणं भवति तुर्यायाः ॥ ८ ॥
एकाग्रविंशत्या वर्षसहस्रैर्मिता समोपान्त्या ।
तावद्भिरेव कलिता वर्षसहस्रैः समा षष्ठी ॥ ९ ॥
धनुषां षट्चत्वारि द्वे च सहस्रे शतानि पञ्चैव ।
हस्ताः सप्तारत्निः षट्कालिकमानवोत्सेधः ॥ १० ॥
पल्यानि त्रीणि द्वे तथैककं वर्षपूर्वकोटी च ।
विंशत्यब्दं च विंशतिरब्दानां तत्कृतामायुः ॥ ११ ॥

तस्मात्पल्योपमे सम्पूर्णेऽस्तृतीयायाः।
पल्योपमाष्टमांशान्तृमाया कुलधरा ये स्युः ॥ १२ ॥
तेषामाद्यो नाम्ना प्रतिश्रुतिः सन्मतिर्द्वितीयः स्यात्।
क्षेमङ्करस्तृतीयः क्षेमन्धरसंज्ञितस्तुर्यः ॥ १३ ॥
सीमङ्करस्तथाऽन्यः सीमन्धरसाह्वयो विमलवाहः।
चक्षुष्मांश्च यशस्वानभिचन्द्रश्चन्द्राभनामा च ॥ १४ ॥
मरुदेवनामधेयः प्रसेनजिन्नाभिराजनामाऽन्यः।
हामाधिक्काराननुशासति निजतेजसः स्खलितान् ॥ १५ ॥
हाकारं पञ्च ततो हामाकारं च पञ्च पञ्चान्ये।
हामाधिक्कारानकथयन्ति तमोदण्डनं भरतः ॥ १६ ॥
रविताराद्यालोकेभ्यस्त्रयो नृणामपनयन्ति भयमाद्याः।
दीपविधोद्गमनमर्यादाऽऽवृत्तियाद्यादिरोहमतः ॥ १७ ॥
कथयन्ति तु चत्वारः सुतेक्षणाद्गीतिमपहरत्यन्यः।
नामकृतिं शशापरमपि शिशुकेलिं प्रकुरुतेऽन्यः ॥ १८ ॥
जीवति सुतैः सहान्यो जलतरणं गर्भमलविशुद्धिं च।
नाभिनिकर्तनमपि च प्रयोऽपि परे व्यपदिशन्ति नृणाम् १९
अथ नाभिराजनृपतेर्मरुदेव्यां व्यजनि नन्दनो वृषभः।
तीर्थकृतामाद्योऽसौ प्रवर्त्य भरते भृशं तीर्थम् ॥ २० ॥
निर्वाणमवाप ततः पञ्चाशल्लक्षकोटिमितवार्द्धिः।
यावदविच्छिन्नतया समागतं तत् श्रुतं सकलम् ॥ २१ ॥
जातस्ततोऽजितजिनः शिष्येभ्यः सोऽपि सम्यगुपदिश्य।
तत् श्रुतमखिलं प्रापन्निर्वाणमनुत्तरं तद्वत् ॥ २२ ॥
एवमजितादिचन्द्रप्रभान्ततीर्थेशिनामतिक्रान्ता।
सागरकोटीनां त्रिंशत्क्रमाद्दशभिरथ नवभिः ॥ २३ ॥

तेऽपि ततस्तच्चेष्टितमीदृशमावेदयन् स्वकीयगुरोः ।
सोऽपि ततो द्विजमुख्यस्तमपूर्वं छात्रमित्यवदत् ॥ ४८ ॥
शास्त्राणि करतलामलकायन्तेऽस्माकमिह समस्तानि ।
अपरेऽपि वादिनोऽस्माज्जायन्ते नष्टदुष्टमदाः ॥ ४९ ॥
तत्केन हेतुना तद्व्याख्यानं नैव रोचते तुभ्यम् ।
कथयेति ततस्तस्मै प्रतिवचनमुवाच सोऽपीत्थम् ॥ ५० ॥
यदि सर्वशास्त्रतत्त्वं जानन्ति भवन्त एव तदमुष्याः ।
आर्यायाः कथयन्त्वर्थमिति पठति तत्काव्यम् ॥ ५१ ॥
षड्द्रव्यनवपदार्थत्रिकालपञ्चास्तिकायषट्कायान् ।
विदुषां वरः स एव हि यो जानाति प्रमाणनयैः ॥ ५२ ॥
श्रुत्वा तेनेत्युदितामश्रुतपूर्वामतीव विषमार्थाम् ।
आर्यामिमां ततोऽस्याः सोऽर्थमजानन्निति समूचे ॥ ५३ ॥
कस्य च्छात्रस्त्वं कथयेत्याह सोऽपि भट्टार्हत ।
श्रीवर्धमानभट्टारकस्य जगतां गुरोश्छात्रः ॥ ५४ ॥
सिद्धार्थनन्दनस्य च्छात्रस्त्वं येन्महेन्द्रजालविदः ।
इत्यागमे जनस्य प्रतिदर्शयतो विपन्मार्गे ॥ ५५ ॥
तेनैव विवादं सार्धं प्रकरोमि किं त्वया कार्यम् ।
त्वमो जयापजययोर्ममैव विद्वत्सु लघुता स्यात् ॥ ५६ ॥
एहि व्रजाव इत्यभिधाय पुरोधाय गौतमः शक्रम् ।
समवसृतिं भ्रातृभ्यामायाद्वायुवन्हिभूतिभ्याम् ॥ ५७ ॥
दृष्ट्वा मानस्तम्भं विगलितमानोदयो द्विजन्माऽसौ ।
भ्रातृभ्यां सह जिनपतिमभिवन्द्य परीत्य तं भक्त्या ॥ ५८ ॥
नत्वा नुत्वा स्वकस्यात्मपरिग्रहममाददौ दीक्षाम् ।
आद्यावधिमनमभूत्र मनोद्विगणाग्रणः ॥ ५९ ॥

अथ भगवान् किंजीवोऽस्ति नास्ति वा किंगुणः कियान्कीदृक्
इत्यादिपदयुतप्रमितं तद्गणेटप्रश्नपर्यन्ते ॥ ६० ॥
जीवोऽस्त्यनादिनिधनः शुभाशुभविभेदकर्मणां कर्ता ।
सदसत्कर्मफलानां भोक्ता स्वोपात्ततनुमात्रः ॥ ६१ ॥
उपसंहरणविसर्पणधर्मज्ञानादिभिर्गुणैर्युक्तः ।
ध्रौव्योत्पत्तिव्ययलक्षणः स्वसंवेदनग्राह्यः ॥ ६२ ॥
नोकर्मकर्मपुद्गलमनादिरूपात्तकर्मसम्बन्धात् ।
गृह्णन् मुञ्चन् भ्राम्यन् भवे भवे तत्क्षयान्मुक्तः ॥ ६३ ॥
इत्याद्यनेकभेदैस्तथा स जीवादिवस्तुसद्भावम् ।
दिव्यध्वनिना स्फुटमिन्द्रभूतये सन्मतिरबोधत् ॥ ६४ ॥
श्रावणबहुलप्रतिपद्युदितेऽर्के रौद्रनामनि मुहूर्ते ।
अभिजिद्गते शशाङ्के तीर्थोत्पत्तिर्बभूव गुरोः ॥ ६५ ॥
तेनेन्द्रभूतिगणिना तद्दिव्यवचोऽवबुध्य तत्त्वेन ।
ग्रन्थोऽङ्गपूर्वनाम्ना प्रतिरचितो युगपदपराह्णे ॥ ६६ ॥
प्रतिपादितं ततस्तत् श्रुतं समस्तं महात्मना तेन ।
प्रथितात्मीयसधर्मणे सुधर्माभिधानाय ॥ ६७ ॥
सोऽपि प्रतिपादितवान् जम्बूनाम्ने सधर्मणे स्वस्य ।
तेभ्यस्ततो गणिभ्योऽन्यैरपि तदधीतं मुनिवृषभैः ॥ ६८ ॥
सन्मतिजिनस्ततोऽसावासन्नायिमुक्तिभव्यसस्यानाम् ।
परमानन्दं जनयन् धर्मामृतवृष्टिसेकेन ॥ ६९ ॥
त्रिंशत्समिह वर्षाणां विहृत्य बहुजनपदान् जगत्पूज्यः ।
सरसिजवनपरिकलिते पावापुरबहिरुद्याने ॥ ७० ॥
यत्सरचतुष्टयेऽर्द्धत्रिमाससहीने चतुर्थकालस्य ।
शेषे कार्तिककृष्णचतुर्दश्यां निर्वृतिमवाप ॥ ७१ ॥

भगवत्परिनिर्वाणक्षण एवावाप केवलं गणभृत् ।
गौतमनामा सोऽपि द्वादशभिर्वत्सरैर्मुक्तः ॥ ७२ ॥
निर्वाणक्षण एवासावापत्केवलं सुधर्ममुनिः ।
द्वादशवर्षाणि विहृत्य सोऽपि मुक्तिं परामाप ॥ ७३ ॥
जम्बूनामाऽपि ततस्तन्निर्वृतिसमय एव कैवल्यम् ।
प्राप्याष्टत्रिंशतामिह समा विहृत्याप निर्वाणम् ॥ ७४ ॥
एते त्रयोऽपि मुनयोऽनुबद्धकेवलविभूतयोऽमीषाम् ।
केवलदिवाकरोऽस्मिन्नस्तमवाप व्यतिक्रान्ते ॥ ७५ ॥
जम्बूनामा मुक्तिं प्राप यदासौ तथैव विष्णुमुनिः ।
पूर्वाङ्गभेदभिन्नाशेषश्रुतपारगो जातः ॥ ७६ ॥
एवमनुबद्धसकलश्रुतसागरपारगामिनोऽत्रासन् ।
नन्द्यपराजितगोवर्धनाह्वया भद्रबाहुश्च ॥ ७७ ॥
एषां पञ्चानामपि काले वर्षशतसम्मितेऽतीते ।
दशपूर्वविदोऽभूवँस्तत एकादश महात्मानः ॥ ७८ ॥
तेषामाद्यो नाम्ना विशाखदत्तस्ततः क्रमेणासन् ।
प्रोष्ठिलनामा क्षत्रियसंज्ञो जयनागसेनसिद्धार्थौ ॥ ७९ ॥
धृतिषेणविजयसेनौ च बुद्धिमान्गङ्गधर्मनामानौ ।
एतेषां वर्षशतं त्र्यशीतियुतमजनि युगसंख्या ॥ ८० ॥
नक्षत्रो जयपालः पाण्डुर्द्रुमसेनकंसनामानौ ।
एते पञ्चापि ततो बभूवुरेकादशाङ्गधराः ॥ ८१ ॥
विंशत्यधिकं वर्षशतद्वयमेषां बभूव युगसंख्या ।
आचाराङ्गधराश्चत्वारस्तत उदभवन् क्रमशः ॥ ८२ ॥
प्रथमस्तेषु सुभद्रोऽभयभद्रोऽन्योऽपरोऽपि जयबाहुः ।
लोहार्योऽन्त्यश्चैतेऽष्टादशवर्षयुगसंख्या ॥ ८३ ॥

विनयधरः श्रीदत्तः शिवदत्तोऽन्योऽर्हद्दत्तनामैते ।
आरातीया यतयस्ततोऽभवन्नङ्गपूर्वदेशधराः ॥ ८४ ॥

सर्वांगपूर्वदेशैकदेशवित्पूर्वदेशमध्यगते ।
श्रीपुण्ड्रवर्धनपुरे मुनिरजनि ततोऽर्हद्बल्याख्यः ॥ ८५ ॥

स च तत्प्रसारणाधारणाविशुद्धातिसत्क्रियोद्युक्तः ।
अष्टांगनिमित्तज्ञः संघानुग्रहनिग्रहसमर्थः ॥ ८६ ॥

आस्ते संवत्सरपञ्चकावसाने युगप्रतिक्रमणम् ।
कुर्वन्योजनशतमात्रवर्तिमुनिजनसमाजस्य ॥ ८७ ॥

अथ सोऽन्यदा युगान्ते कुर्वन् भगवान्युगप्रतिक्रमणम् ।
मुनिजनवृन्दमपृच्छत्किं सर्वेऽप्यागता यतयः ॥ ८८ ॥

तेऽप्यूचुर्भगवन्वयमात्मात्मीयेन सकलसंघेन ।
सममागतास्ततस्तद्वचः समाकर्ण्य सोऽपि गणी ॥ ८९ ॥

काले कलावमुष्मिन्नितः प्रभृत्यत्र जैनधर्मोऽयम् ।
गणपक्षपातभेदैः स्थास्यति नोदासभावेन ॥ ९० ॥

इति सञ्चिन्त्य गुहायाः समागता ये यतीश्वरास्तेषु ।
काँश्चि'संघ'भिधानान् काँश्चि'द्वीरा'ह्वयानकरोत् ॥ ९१ ॥

प्रथिताद्शोकवाटात्समागता ये मुनीश्वरास्तेषु ।
काँश्चि'दपराजिता'ख्यान्काँश्चि'द्देवा'ह्वयानकरोत् ॥ ९२ ॥

पञ्चस्तूप्यनिवासादुपागता येऽनगारिणस्तेषु ।
काँश्चि'त्सेना'भिख्यान्काँश्चि'द्भद्रा'भिधानकरोत् ॥ ९३ ॥

ये शाल्मलीमहाद्रुममूलाद्यतयोऽभ्युपागतास्तेषु ।
काँश्चिद् 'गुणधर'संज्ञान्काँश्चिद्'गुप्ता'ह्वयानकरोत् ॥ ९४ ॥

ये खण्डकेसरद्रुममूलान्मुनयः समागतास्तेषु ।
काँश्चि'त्सिंहा'भिख्यान्काँश्चि'च्चन्द्रा'ह्वयानकरोत् ॥ ९५ ॥

उक्तं च—

'आयातौ नन्दिवीरौ प्रकटगिरिगुहावासतोऽशोकवाटा-
द्देवाश्चान्योऽपराजित इति यतिपौ सेनभद्राह्वयौ च ।
पञ्चस्तूप्यात्सगुप्तौ गुणधरवृषभः शाल्मलीवृक्षमूला-
न्निर्यातौ सिंहचन्द्रौ प्रथितगुणगणौ केसरात्खण्डपूर्वात् ९६

अन्ये जगुर्गुहाया विनिर्गता 'नन्दिनो' महात्मानः ।
'देवा'श्चाशोकवनात्पञ्चस्तूप्यास्ततः 'सेनाः' ॥ ९७ ॥

विपुलतरशाल्मलीद्रुममूलगतावासवासिनो 'वीराः' ।
'भद्रा'श्च खण्डकेसरतरुमूलनिवासिनो जाताः ॥ ९८ ॥

गुहायां वासितो ज्येष्ठो द्वितीयोऽशोकवाटिकात् ।
निर्यातौ 'नन्दि''देवा'भिधानावाद्यावनुक्रमात् ॥ ९९ ॥

पञ्चस्तूप्यास्तु 'सेना'नां 'वीरा'णां शाल्मलीद्रुमः ।
खण्डकेसरनामा च 'भद्रः' 'सिंहो'ऽस्य सम्मतः ॥ १०० ॥

एवं तस्यार्हद्बलिमुनिजनसङ्घप्रवर्तनस्यास्य ।
विदधत्यस्मा मुनीन्द्राः पञ्चकुलाचार्यनामधाः ॥१०१॥

तस्यानन्तरमनगारपुङ्गवो माघनन्दिनामाऽभूत् ।
सोऽप्यङ्गपूर्वदेशं प्रकाश्य समाधिना दिवं प्राप्तः ॥१०२॥

देशे ततः सुराष्ट्रे गिरिनगरपुरान्तिकोर्जयन्तगिरौ ।
चन्द्रगुहाविनिवासी महातपाः परममुनिमुख्यः ॥१०३॥

अग्रायणीयपूर्वपञ्चमवस्तुगतचतुर्थमहा- ।
कर्मप्राभृतज्ञः सूरिर्धरसेननामाऽभूत् ॥ १०४ ॥

सोऽपि निज[illegible] [illegible] ।
[illegible] ॥ १०५ ॥

देशेन्द्रदेशनामनि वेणाकतटीपुरे महामहिमा ।
समुदितमुनीन् प्रति ब्रह्मचारिणा प्रापयल्लेखम् ॥ १०६ ॥
आदाय लेखपत्रं तेऽप्यथ तद्ब्रह्मचारिणो हस्तात् ।
प्रविमुच्य बन्धनं वाचयाम्बभूवुस्तदा महात्मानः ॥१०७॥
स्वस्ति श्रीमत इत्यूर्जयन्ततटनिकटचन्द्रगुहा-
वासाद्धरसेनगणी वेणाकतटसमुदितयतीन् ॥ १०८ ॥
अभिवन्द्य कार्यमेवं निगदत्यस्माकमायुरवशिष्टम् ।
स्वल्पं तस्मादस्मच्छ्रुतस्य शास्त्रस्य व्युच्छित्तिः ॥ १०९ ॥
न स्याद्यथा तथा द्वौ यतीश्वरौ ग्रहणधारणसमर्थौ ।
निशितप्रज्ञौ यूयं प्रस्थापयतेति लेखार्थम् ॥ ११० ॥
सम्यगवधार्य तैरपि तथाविधौ द्वौ मुनी समन्विष्य ।
प्रहितौ तावपि गत्वा चापतुरथमूर्जयन्तगिरिम् ॥ १११ ॥
आगमनदिने च तयोः पुरस्य धरसेनसूरिरपि रात्रौ ।
निजपादयोः पतन्तौ धवलवृषावैक्षत स्वप्ने ॥ ११२ ॥
तत्स्वप्नेक्षणमात्राज्जयतु श्रीदेवतेति समुपलपन् ।
उदतिष्ठदथ प्रातः समागतावैक्षत मुनी द्वौ ॥ ११३ ॥
प्राघूर्णिकोचितविधिं तयोर्विधायादरात्ततस्ताभ्याम् ।
विश्राम्य त्रीन्दिवसान् निवेदितागमनहेतुभ्याम् ॥ ११४ ॥
सुपरीक्षा हृन्निर्वृतिकरीति संचिन्त्य दत्तवान् सूरिः ।
साधयितुं विद्ये द्वे हीनाधिकवर्णसंयुक्ते ॥ ११५ ॥
श्रीमन्नेमिजिनेश्वरसिद्धशिलायां विधानतो विद्या-
संसाधनं विदधतोस्तयोश्च पुरतः स्थिते देव्यौ ॥ ११६ ॥
हीनाक्षरविद्यासाधकस्य देव्येकलोचनाभिधाऽस्थात् ।
अधिकाक्षरविद्यासाधकस्य सा दन्तुरा तस्थौ ॥ ११७ ॥

दृष्ट्वा ताविति देव्यौ न देवतानां स्वभाव एष इति ।
प्रविचिन्त्य ततो विद्यामन्त्रव्याकरणविधिनैव ॥ ११८ ॥
प्रस्तार्य न्यूनाधिकवर्णक्षेपापचयविधानेन ।
पुनरपि पुरतश्च तयोर्देव्यौ ते दिव्यरूपेण ॥ ११९ ॥
केयूरहारनूपुरकटककटीसूत्रभासुरशरीरे ।
अग्रे स्थित्वा भवतो किं करणीयं प्रवदतेति ॥ १२० ॥
तावप्यूचतुरेतदस्माकं कार्यमस्ति न किमपि ।
ऐहिकपारत्रिकयोर्भवतीभ्यां सिध्यति यदत्र परम् ॥ १२१ ॥
किन्तु गुरोर्नियोगादावाभ्यां विहितमेतदिति वचनम् ।
श्रुत्वा तयोरभीष्टं ते जग्मतुः स्वास्पदं देव्यौ ॥ १२२ ॥
विद्यासाधनमेवं विधाय तौ प्रान्ततो गुरोः पार्श्वम् ।
गत्वा तौ निजवृत्तान्तमवदतां तद्यथावृत्तम् ॥ १२३ ॥
सोऽप्यतियोग्याविति सञ्चिन्त्य ततः शुभदास्तातिथिवेला-
नक्षत्रेषु तयोर्व्याख्यातुं प्रारब्धवान् ग्रन्थम् ॥ १२४ ॥
ताभ्यामप्यध्ययनं कुर्वाणाभ्यामपास्ततन्द्राभ्याम् ।
परममविलङ्घयभ्यां गुरुविनयं ज्ञानविनयं च ॥ १२५ ॥
दिवसेषु कियत्स्वपि गतेष्वथाषाढमासि सितपक्षे ।
एकादश्यां च तिथौ ग्रन्थसमाप्तिः कृता विधिना ॥ १२६ ॥
तद्दिन एवैकस्य द्विजपंक्तिं विषमितामपास्य सुरैः ।
कृत्वा कुन्दोपमितां नाम कृतं पुष्पदन्त इति ॥ १२७ ॥
अपरोऽपि तूर्यनादैर्जयघोषैर्गन्धमाल्यधूपाद्यैः ।
भूतपतिरेव इत्याहूतो भूतैर्महं कृत्वा ॥ १२८ ॥
स्वासन्नमृतिं ज्ञात्वा मा भूत्संक्लेशमेतयोरस्मिन् ।
इति गुरुणा सञ्चिन्त्य द्वितीयदिवसे ततस्तेन ॥ १२९ ॥

प्रियहितवचनैरापृच्छ्य तावुभावेव पुरीश्वरं प्रहितौ ।
तावपि नवभिर्दिवसैर्गत्वा तत्पत्तनमवाप्य ॥ १३० ॥
योगं प्रगृह्य तथाषाढे मासासितपक्षपञ्चम्याम् ।
वर्षाकालं कृत्वा विहरन्तौ दक्षिणाभिमुखं ॥ १३१ ॥
जग्मतुरथ करहाटे तयोः स यः पुष्पदन्तनाममुनिः ।
जिनपालिताभिधानं दृष्ट्वासौ भागिनेयं स्वम् ॥ १३२ ॥
दत्त्वा दीक्षां तस्मै तेन समं देशमेत्य वनवासम् ।
तस्थौ भूतबलिरपि मधुरायां द्रविडदेशेऽस्थात् ॥ १३३ ॥
अथ पुष्पदन्तमुनिरप्यध्यापयितुं स्वभागिनेयं तम् ।
कर्मप्रकृतिप्राभृतमुपसंहार्यैव षड्भिरिह खण्डैः ॥ १३४ ॥
वांछन् गुणजीवादिकविंशतिविधसूत्रसत्प्ररूपणया ।
युक्तं जीवस्थानाद्यधिकारं व्यरचयत्सम्यक् ॥ १३५ ॥
सूत्राणि तानि शतमध्याप्य ततो भूतबलिगुरो पार्श्वम् ।
तदभिप्रायं ज्ञातुं प्रस्थापयद्गमंदेवोऽपि ॥ १३६ ॥
तेन तत परिपठितां भूतबलिः सत्प्ररूपणां श्रुत्वा ।
षट्खण्डागमरचनाभिप्रायं पुष्पदन्तगुरोः ॥ १३७ ॥
विज्ञायाल्पायुष्यानल्पमतीन्मानवान् प्रतीत्य ततः ।
द्रव्यप्ररूपणाद्यधिकारः खण्डपञ्चकस्यान्वक् ॥ १३८ ॥
सूत्राणि षट्सहस्रग्रन्थान्यथ पूर्वसूत्रसहितानि ।
प्रविरच्य महाबन्धाह्वयं ततः षष्ठकं खण्डम् ॥ १३९ ॥
त्रिंशत्सहस्रसूत्रग्रन्थं व्यरचयदसौ महात्मा ।
तेषां पञ्चानामपि खण्डानां शृणुत नामानि ॥ १४० ॥
आद्यं जीवस्थानं क्षुल्लकबन्धाह्वयं द्वितीयमतः ।
बन्धस्वामित्वं भाववेदनावर्गणाखण्डे ॥ १४१ ॥

एवं षट्खण्डागमरचनां प्रविधाय भूतबल्यार्यः ।
आरोप्यासद्भावस्थापनया पुस्तकेषु ततः ॥ १४२ ॥
ज्येष्ठसितपक्षपञ्चम्यां चातुर्वर्ण्यसंघसमवेतः ।
तत्पुस्तकोपकरणैर्व्यधात् क्रियापूर्वकं पूजाम् ॥ १४३ ॥
श्रुतपञ्चमीति तेन प्रख्यातिं तिथिरियं परामाप ।
अद्यापि येन तस्यां श्रुतपूजां कुर्वते जैनाः ॥ १४४ ॥
जिनपालितं ततस्तं भूतबलिः पुष्पदन्तगुरुपार्श्वम् ।
षट्खण्डान्यप्यध्यगमयत्तत्पुस्तकसमेतम् ॥ १४५ ॥
अथ पुष्पदन्तगुरुरपि जिनपालितहस्तसंस्थितमुदीक्ष्य ।
षट्खण्डागमपुस्तकमहो मया चिंतितं कार्यम् ॥ १४६ ॥
सम्प्रधार्येति समस्तांगोत्पन्नमहाश्रुतानुरागभरः ।
चातुर्वर्ण्यसुसंघान्वितो विहितवान् क्रियाकर्म ॥ १४७ ॥
गन्धाक्षतमाल्याम्बरवितानघण्टाध्वजादिभिः प्राग्वत् ।
श्रुतपञ्चम्यामकरोत्सिद्धान्तसुपुस्तकमहेज्याम् ॥ १४८ ॥
एवं षट्खण्डागमसूत्रोत्पत्तिं प्ररूप्य पुनरधुना ।
कथयामि कषायप्राभृतस्य सत्सूत्रसम्भूतिम् ॥ १४९ ॥
ज्ञानप्रवादनामकपञ्चमपूर्वस्थदशमवस्तुतृतीय- ।
प्राभृतकज्ञोऽभूद् गुणधरमुनीन्द्रः ॥ १५० ॥
गुणधरधरसेनान्वयगुर्वोः पूर्वापरक्रमोऽस्माभिः ।
न ज्ञायते तदन्वयकथकागममुनिजनाभावात् ॥ १५१ ॥
अथ गुणधरमुनिनाथः सकषायप्राभृतान्वयं तस्यार्या- ।
[illegible] ॥ १५२ ॥
त्र्यधिकाशीत्या युक्तं शतं च मूलसूत्रगाथानाम् ।
विवरणगाथानां च त्र्यधिकं पञ्चाशतमकार्षीत् ॥ १५३ ॥

एवं गाथासूत्राणि पञ्चदशमहाधिकाराणि ।
प्रविरच्य व्याचख्यौ स नागहस्त्यार्यमंक्षुभ्याम् ॥ १५४ ॥
पार्श्वे तयोर्द्वयोरप्यधीत्य सूत्राणि तानि यतिवृषभः ।
यतिवृषभनामधेयो बभूव शास्त्रार्थनिपुणमतिः ॥ १५५ ॥
तेन ततो यतिपतिना तद्गाथावृत्तिसूत्ररूपेण ।
रचितानि षट्सहस्रग्रन्थान्यथ चूर्णिसूत्राणि ॥ १५६ ॥
तस्यान्ते पुनरुच्चारणादिकाचार्यसंज्ञकेन ततः ।
सूत्राणि तानि सम्यगधीत्य ग्रन्थार्थरूपेण ॥ १५७ ॥
द्वादशगुणितसहस्रग्रन्थान्युच्चारणाख्यसूत्राणि ।
रचितानि वृत्तिरूपेण तेन तच्चूर्णिसूत्राणाम् ॥ १५८ ॥
गाथाचूर्ण्युच्चारणसूत्रैरुपसंहृतं कषायाख्य-।
प्राभृतमेवं गुणधरयतिवृषभोच्चारणाचार्यैः ॥ १५९ ॥
एवं द्विविधो द्रव्यभावपुस्तकगतः समागच्छन् ।
गुरुपरिपाट्या ज्ञातः सिद्धान्तः कुण्डकुन्दपुरे ॥ १६० ॥
श्रीपद्मनन्दिमुनिना सोऽपि द्वादशसहस्रपरिमाणः ।
ग्रन्थपरिकर्मकर्ता षट्खण्डाद्यत्रिखण्डस्य ॥ १६१ ॥
काले ततः कियत्यपि गते पुनः शामकुण्डसंज्ञेन ।
आचार्येण ज्ञात्वा द्विभेदमप्यागमः कार्त्स्न्यात् ॥ १६२ ॥
द्वादशगुणितसहस्रं ग्रन्थं सिद्धान्तयोरुभयोः ।
षष्ठेन विना खण्डेन पृथुमहाबन्धसंज्ञेन ॥ १६३ ॥
प्राकृतसंस्कृतकर्णाटभाषया पद्धतिः परा रचिता ।
तस्मादारात्पुनरपि काले गतवति कियत्यपि च ॥ १६४ ॥
अथ तुम्बुलूरनामाचार्योऽभूत्तुम्बुलूरसद्ग्रामे ।
षष्ठेन विना खण्डेन सोऽपि सिद्धान्तयोरुभयोः ॥ १६५ ॥

तस्य समीपे सकलं सिद्धान्तमधीत्य वीरसेनगुरुः ।
उपरितमनिबन्धनाद्यधिकारानष्ट च लिलेख ॥ १७८ ॥

आगत्य चित्रकूटात्ततः स भगवान्गुरोरनुज्ञानात् ।
वाटग्रामे चात्रानतेन्द्रकृतजिनगृहे स्थित्वा ॥ १७९ ॥

व्याख्याप्रज्ञप्तिमवाप्य पूर्वषट्खण्डतस्ततस्तस्मिन् ।
उपरितमबन्धनाद्यधिकारैरष्टादशविकल्पैः ॥ १८० ॥

सत्कर्मनामधेयं षष्ठं खण्डं विधाय संक्षिप्य ।
इति षण्णां खण्डानां ग्रन्थसहस्रैर्द्विसप्तत्या ॥ १८१ ॥

प्राकृतसंस्कृतभाषामिश्रां टीकां विलिख्य धवलाख्याम् ।
जयधवलां च कषायप्राभृतके चतसृणां विभक्तीनाम् १८२

विंशतिसहस्रसद्ग्रन्थरचनया संयुतां विरच्य दिवम् ।
यातस्ततः पुनस्तच्छिष्यो जयसेनगुरुनामा ॥ १८३ ॥

तच्छेषं चत्वारिंशता सहस्रैः समापितवान् ।
जयधवलैवं षष्टिसहस्रग्रन्थोऽभवट्टीका ॥ १८४ ॥

एवं श्रुतावतारो निरूपितः श्रीन्द्रनन्दियतिपतिना ।
श्रुतपञ्चम्यामृषिभिर्व्याख्येयो भव्यलोकेभ्यः ॥ १८५ ॥

यत्किञ्चिदत्र लिखितं समयविरुद्धं मयाऽल्पबोधेन ।
अपनीय तदागमतत्त्वविदः शोधयन्तु बुधाः ॥ १८६ ॥

श्लोकद्वयेन युक्तैरेकेनाशीतिशतमितार्याभिः ।
सप्तोत्तरद्विशतया ग्रन्थेनायं परिमितः ॥ १८७ ॥

॥ इति 'इंद्रनंदि' आचार्यकृतः श्रुतावतारः ॥

श्रीसोमदेवप्रणीता
अध्यात्मतरंगिणी ।



सा स्माऽर्धः स्याद्धरित्री दिशतु स परमां संपदोऽस्यामधिष्ठे-
स्मोद्वान्ते यः पतत्स्म कम इति च कुतो निर्भरं सर्वदा यः ।
साऽसुर्गांशक्षितिनिधौ क्षितिमिति मकन प्रक्षिपन् सूक्ष्मवीक्षान्
सा भुक्ताम्न्यमचार पवनपथमतां वा यतो नूर्ध्वभानुः ॥ १ ॥

पातालांता बभूवुः गलजनजनिता वाक्पथा कर्णपूरा
कुध्यत्यंगा स साक्षात्त्वयि मतिविशिर्नाभानुभागोऽर्पिताग ।
[illegible] स्मान [illegible] पाशभि [illegible]
मु[illegible] ।

[illegible] धारणायां चतुरयपथज सप्रयोग [illegible]
न्याहाराक्षवृत्त. स्वविषयविदामन् गुरुस्गुरुक विनर्क ।
ध्याने [illegible] यमनियमपथावस्थितं शमनाधे
[illegible] यामनिशाम्यैति ॥ २ ॥

यः पात्रे मास्ति मैत्र्याः प्रशममुपगता यस्य माऽऽज्ञा पितार्त्री
न स्थैर्यं यस्य चित्ते स्मरदहनशिखाः शांतिभाजो न यस्य ।
यः क्रूरानामसंगोऽद्दा करणपरणतिः स्वस्य यस्या कथं नो
स्वद्ध्यानं भो ! विधित्सुर्भवति न महतो मोपदाग्राय वेदी ४

चर्चा देहे दशाने 'क्षिपति मंजति वा कर्दमे कुंकुमैर्वा
भो रोदः सम्मदो वा 'पितृवनपटकांर्द्रिय्यधानोत्सुकर्वा ।
येषां द्विपोऽर्यमीष्टे हन्ति नमति वा निदितः संस्तुतैर्वा
संवर्ध ते पुनाना दधतु चिरधर्माष्टां धृतिं योऽपि भूयः ॥ ५ ॥

भूर्यासि त्वं महांसि क्षिपं तपने ' परं शुष्यदाशानभांसि'
ज्यायांसि' त्वं पयांसि' क्षरे मिहर ' स्वरं क्षुभ्यदुर्वीमलांसि' ।
स्रोजांसि' त्वं रजांसि सृज पवन ' हिमं भूरि मूर्च्छत्सरांसि'
धैर्यासि स्व यमांसि' त्यजति न धृतधीरेप नूनं रहांसि ॥ ६ ॥

पुष्पमोत्याऽऽद्विपाले कलयति नवुली सिंहशार्यं करेणु-
र्वाहापत्यं लुलायी'' प्रमुदितहृदया व्याघ्रपोतं कुरंगी'' ।
दूरारूढिमगाढाढ्यगलदखिलविकल्पौघजालाध्यदीया-
दित्थं ध्यानावधानादजनिपत मिथो जंतवोऽमी वनेऽपि ॥ ७ ॥

आनंदस्यंदिसिद्धिद्रुमवनजटालिते लोचने निःप्रकंपं
यद्ध्याने भावसेय. कथमपि मरुतां गंधवाहांतरालें ।

---

१ शासन । २ उपदागाय कथं न भवन्यपि तु भवायेव । ३ शार्गी । ४ गिरौ । ५ भृये । ६ स्पं । ७ प्रशानस्पृथंवी. । ८ मानुमित्रयां. । ९ कुर्वाण । १० नेजांसि । ११ प्रेरय । १२ हे सूर्य । १३ दिगावकाशोपकानि । १४ प्रभुगणि । १५ जलानि । १६ मुंच । १७ हे मेघ । १८ भूर्वानिर्माणिलां अकानि । १९ मयर्यांनि । २० जगन्मपंटकानि । २१ [illegible] । २२ हस्मिनी । २३ मार्जारी । २४ हरिणी

तावन्मात्रेऽपि काले हुतभुगिव भवेद् ध्यानमुच्चैरघानां
ध्वंसायोर्वीधराणां ज्वलदचलतया वज्रसंपातजन्मा ॥ १७ ॥

विष्वक्संस्थानदेहे गतिषु चतसृषु प्राणिनि स्तः सदृक्के
सर्वस्मिन्नार्त्तरौद्रे विकलकरणके तत्र योगोपयोगः ।
उत्कृष्टं धर्ममुक्तं यतिषु सुरपशुश्वभ्रिषंढावलानां
मर्त्येष्वन्येषु तद्वै द्विशि निखिलविदश्चाप्यनुत्कृष्टमाहुः ॥ १८ ॥

आद्यं शुक्लं त्रिसंहत्युचिततनुविधावाद्यसंहत्युपेते
विज्ञेयं तद्द्वयं स्यादितरदपि नरे क्वापि कालाद्यपेक्षम् ।
कोऽधीशो मातुमेतां परणतिमितरां कर्तुमानंत्यकृते-
स्तत्तद्वाह्यांतरंगाश्रयविषयवशाऽऽवेशभूयोवताराम् ॥ १९ ॥

नाऽऽशास्ते प्रीतिमिष्टं सदपि न मनुते नैव शोचत्यतीतं
न द्वेषोऽनिष्टसंगे न च कलुषमतिर्वाण्यभावाभिलाषी ।
मायाऽसूयागशोभामदमदनकथालोकयात्रातिगश्च
प्रोन्मुंचेद्वार्त्तमेतत्पशुगतिफलदं यः स्तैयायास्तु यः सः ॥२०॥

येषां हिंसा न सत्त्वे क्वचिदपि वचसो येषु नाऽनृतभावो
येषां चित्तं न वित्ते परवति निजके येषु रक्षा न चांगे ।
ध्यानाद्ये रौद्रसंज्ञादुपरतमतयः श्वभ्रदेशादिदूरी-
श्रीपद्वेषमसोपायैहविधिविधुराः प्रीतये संतु ते वः ॥ २१ ॥

---

१ धर्मशुक्लध्यानद्वयं । २ पापानां । ३ पर्वतानां । ४ आत्मपर- [illegible] भवः । ५ [illegible] । ६ सदृशे । ७ [illegible] । ८ नारकः । ९ नपुंसक । १० अन्येषु । ११ [illegible] । १२ [illegible] । १३ [illegible] । १४ [illegible] । १५ [illegible] । १६ [illegible] । १७ [illegible] । १८ [illegible] ।

याथात्म्यं धर्ममाहुस्तदिह बहुधियो वस्तुजातेश्च सर्वं
दर्पाभर्पाभिषंगप्रविकलमनसां स्यात्सदालंबमेषाम्।
तद्ध्यानाधीनधीनाः प्रतिगमविगमोन्मोहमूलं लुनंति
तस्मिन्पंचावबोधीपरिकलितकले क्वाऽपि तत्त्वे कृताऽस्थो २२

आज्ञा सर्वज्ञवाणी निजवृजिनजयोपायचिंता त्वपायः
कर्मोद्रिक्तो विपाकस्त्रिभुवनरचनाऽऽलंबि संस्थानमुक्तम्।
तत्राऽयं स्याद्विवेको विचय इह ततो योगिनः स्युः कदाचित्
नाकस्त्रीनिर्भरालोलोत्पलनयनसुहृदः कर्मपाशाच्छिदो वा ॥ २३ ॥

धर्मध्यानप्रबंधाभ्यसनसमधिकास्थैर्यलब्धावतारे
प्राणायामोर्म्यबाधाऽऽसनजयदवयस्थानविज्ञानसारे।
द्विः श्रोत्रेयादिसर्वाऽऽशयशमनसमासक्तसंसारपारे
सिद्धचित्तप्रचारैर्भवति कृतमतिः शुक्लयोगोपचारे ॥ २४ ॥

नानाभावः पृथक्त्वं प्रवचनविषयालोकनार्को वितर्कः
संक्रांतिस्तेन कुर्वन् क्रमविधिवशतो वाचि वाच्ये प्रियोग्याम्।
वीचारो द्रव्य आद्यः स्थितमणुममलः पर्यये वा द्विमार्गः
कर्मारीणामरीणां स्थितिमनुतनुते स्वर्गगो मोक्षगश्च ॥ २५ ॥

गुप्तपायैः कर्मकक्षोऽभिपतदुपचितं कर्म सर्वं विधुन्वे-
त्येकत्वेद्वाविचाराद्गुजिनपिजयिनी वीथिकां गाहमानः।

---

१ अनवगणाधीऽत्र पाठ । २ धर्मध्यानायतनमानस । ३ चलाचलभवभव विनाशान् स्थिरीभूतादिस्यर्थ । ४ पंचानां बोधानां समाहारः पंचावबोधी तया परिकलिता ज्ञाता कला यस्मिन् तस्मिन् । ५ कृतव्यवस्था. । ६ अत्र वा इदं विविधपदार्थेतत्त्वस्य वा पर्यो प्रतिवादर्शियो सर्वसद्भावविरोधे तत्त्वसमर्थनाय सर्वज्ञप्रमाणसंयोजनया स्मृतिमलनाशार सर्वज्ञप्रणीतत्वार्थ-रचनादिविषयः । ७ अनुभव । ८ वाक्यकायव्यापारनिरोधात्मपरिणते । ९ ज्ञानवृत्तिं ।

एकं वाऽऽश्रित्य योगं कमणुमनुसरन् द्रव्यगं भावगं वा
शुक्ले वाऽपि द्वितीये भवति जिनपतिर्घात्यघध्वंसनेन ॥ २६ ॥

मा सा लब्धिस्ततोऽस्मिन् वपुरतिशयवच्चातुरास्यामिरामं
श्रीर्चाह्याऽभ्यंतरी चाद्भुतविभवभवा सर्वसत्त्वप्रमोदः ।
आनंदोऽन्यानपेक्षो दुरवविघटनाद्वेद्यमस्ति स्वकार्ये
नो ते सार्वस्य तस्याः प्रभु न च नियमोऽधेष्विवाऽन्येषु यस्मात् ॥

यत्राऽन्येऽप्यंगभाजो न हि सदसि बुभुक्षादिबाधास्तयामी
तद्बाधा तत्र किं ते न च तदुदयवद्वेद्यमत्रादनाय ।
सामान्याऽऽहारहेतावपि मदभिमतं स्थापितांगेऽन्यथाऽस्ति
देवे स्यादन्यथाऽतो रतिरखिलसुखं नास्ति भुक्तौ हि मुक्तिः २८

देवार्धाते सुधीर्नाप्यनुपहतमतिर्को बलात्त्वत्पदस्थं
योग्या आचारलाभे परममरपदं तेषु त्वद्रूपवर्त्स्ये ।

---

१ [illegible] । [illegible] ज्ञानदर्शनदानलाभभोगोपभोगवीर्यसम्यक्त्वचारित्र-
लक्षण । [illegible] क्षयादनन्तप्राणिगणानुग्रहकरं क्षायिकमभयदानं
लाभान्तराय[illegible] कवलाहारक्रियाणां केवलिना यत शरीरबलाधा-
नहेतवोऽन्यमनुज[illegible] परमशुभा सूक्ष्मानन्ता प्रतिसमयं पुद्गला. संबंध-
मुपयान्ति [illegible], कृत्स्नभोगान्तरायस्योन्मूलनादादिभूतोऽतिशयानंतो
भोग [illegible] [illegible] प्रादुर्भवति, निरवशेषस्योपभोगान्तरायस्य
प्रलयात्प्रादुर्भूत[illegible] क्षायिको यत सिंहासनादिभूतय., सप्तानां प्रकृतीनां
क्षयात्क्षायिक सम्यक्त्व, चारित्र द्वेधा मोहापोहात् क्षायिकं चारित्रं, [२] ननु वेदनीय-
कर्मसद्भावात्[illegible] वदन्त प्रत्याह, वेदनीयं आत्मीयसुखदुःखादिकार्य-
करणसमर्थं न यत मोहनीय[illegible] सहायागमर्थो भवति, उदयप्राप्तं वेदनी-
यमशादानिमित्त न भवति शुभाशुभदेहस्थितिनिबंधनपरमाणुसंबंधनिमित्तं, किं भूतं
सतोऽभिप्रेन तस्मादनन्तसुखसहितस्य केवलिनः कवलाऽऽहारकल्पनं न युक्तमिति ।
४ ना जन संशयविपर्यासानध्यवसायरहितमति. । ५ मोक्षस्य । ६ अर्हद्रूपयुक्तेषु ।

स्थानं नैवोत्तरेषु प्रतिनिधिनिधिषु क्लीवयोषिज्जनानां ।
पौथिल्यस्याविशेषे यदपि न नरयच्छ्वभ्रमुर्व्यर्मजंते ॥ २९ ॥

पौष्पी वृष्टिः प्रभाणां वलयमसदृशं दुंदुभीनां निनाद-
स्त्रीणि छत्राण्यशोको धृतरुरुभयतश्चामराणां प्रचारः ।
उक्तिर्धिष्ण्याभिधेये हरिभिरभिधृतं पीठमत्यद्भुतार्थां
लक्ष्मीरन्याऽपि शक्रः परिचरति मुदा देवमाद्यमेतत् ॥३०॥

ध्येयं स्मार्यं न किंचिद्भगवति निखिलाध्यक्षपक्षायसेयें
तत्रैतद्ध्यानमीहाऽसमकलुषतया तत्समत्वार्य याऽपि ।
तत्साम्ये तद्व्ययायोबहसमयसमावेक्षणा या मनीषा
नो चेदात्मप्रदेशव्यसनसमसनारंभणो वा प्रयत्नः ॥ ३१ ॥

आयुष्यंतर्मुहूर्ते सति समयचतुष्कावधावेव काले
कृत्वा दंडं कपाटं प्रतरमथ जगत्पूरणं व्याप्यसौ स्वम् ।
संक्षिप्याघातिकर्माहितसदृशहतः पूर्वदेहप्रमाणः
सूक्ष्मैकांगोऽन्ययोगप्रविगमकरणात्स्यात्सयोगी तृतीये ॥ ३२ ॥

---

१ पापविलस्य विशेषाभावेऽपि सप्तमं नरकं न यान्तीति भावः । २ मार्दङ्गादशको-टिवादानां । ३ अत्र छन्दस्येवमात्रान्यूनत्वे "म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम्" इत्युक्तस्रग्धरालक्षणत्वात् 'छत्राणि त्रीण्यशोको' इति पाठात् वृत्तदोषः । ४ वाणी । ५ मतल्लिका । ६ ज्ञातव्ये । ७ विषमस्थितिकर्मणा । ८ अपर-तिकर्मणां समास्थितिं कर्तुं । ९ विश्लेषः । १० आत्मा जीवस्तस्य प्रदेशा जीवनैर्भेद्य-स्वभावनामगोत्रवेदनीयपरिणामास्तेषां व्ययने दण्डादिरूपतया क्षेपणं समस्ते लोक-प्रतररूपेणारोपणं तयोरारंभणं यत्न, न हि शुद्धनिश्चयनयापेक्षया ज्ञानानंदाद्यनेक-स्वभावस्य परमात्मनो ध्यानरूपताऽस्ति परं प्रमाणमिदं प्रत्यक्षादिप्रमाणैः परमा-त्मनि तथा तथा स्वाभाविकीं परिणतिं परिच्छेद्य तद्रूपानोपचारोपदेशः इति ह्येव तात्पर्यम् । ११ विनाश ।

सत्यात्मन्यात्मरूपे विरमति मरुतौ त्यक्तसंगेऽथयोगे
क्षीणोल्लाधे क्रियौघे समधियति यथाख्यातचारित्रमत्र।
प्रोन्मुक्ताशेषदोषे भवति कनकवत्प्रांतशुक्लोपपन्ने
मोक्षो योगिन्यवश्यं यदविकलविधौ कारणे को विलंबः ॥३३॥
सर्वासां हि क्रियाणामुपरतिमसमां प्राहुरेतच्चरित्रं
पात्रं तन्मुख्यवृत्त्या भवति खलु यतौ योगिनोऽन्यः परो न।
अस्यार्हत्यभ्युपेतौ स्थितिरिह न भवेन्मुक्तहेतुप्रपंच
उत्कृष्टायाः परोऽस्याः अपि जगति यतो नास्ति रत्नत्रयाप्तेः ३४
ऊर्ध्वं व्रज्यात्मकत्वादयमनिलशिखावत्ततः प्रोर्ध्वमीर्त्ते
नो याने चाऽयमास्ति जगति हि गगने यत्र धर्मोऽस्तिकायः।
प्रत्यावृत्तिर्न मोक्षात्स्वमविगमनान्नैव जीवैर्विहीनः
संसारोऽनंतभावान्न च जननविधिस्तैस्त्वपूर्वैश्च हेतोः॥ ३५ ॥
ओलोकांतात्स्वभावात्समतति समये नायमेकेन मुक्ता-
वस्योत्कर्षाद्विशुद्धेर्घनविवरतया किंचिदूनाकृतिः स्तैः।
एनः संशुद्धिर्यंधव्युपरमकरणाद् ध्यानमेतद्य मुक्त-
माद्ये द्वे तत्र पूर्वश्रुतिनि जिनपतावुत्तरे द्वे च शुक्ले॥ ३६॥
देवं गंता नो यियासा तव न च गतिमान्स्यंदमानप्रदेशः
सर्वार्थव्याप्यवृत्तिर्न च सकलगतः कार्यरूपोऽपि नित्यः।

---

१ सम्यगधिकं गच्छति आत्मस्वभावावस्थोपेक्षालक्षणं यथाख्यातचारित्रं। २ नियमेन। ३ व्यावृत्ति। ४ अयोगिजिनात्। ५ ऊर्ध्वगमनस्वभावभावत्वात्। ६ ऊर्ध्वोच्छ्वासवाधिनः शिखावत्। ७ याति। ८ तिष्ठति। ९ अत्राऽऽऽगमेनिरिष्यर्थः। १० संगच्छेदेन। ११ यद्यपि रत्नत्रयाभिधाः न तत्राऽऽऽहनिकथापि प्रतिविंबं भवति सकलमलकलंकमुक्तसंबंधेर्यान्। १२ गमनशीलः, परं न यातुमिच्छा मुक्तात्मनां स्वभावादेव गमनस्वरूपप्रसिद्धेर्गुरुरिति न कश्चिद्विरोधः। १३ यः किल गतिमान् भवति स क्रमक्रमस्यदमानप्रदेशः, गतिमत्त्वेऽपि मुक्तस्य प्रदेशचलनाभावात् विरोधो न।

संसारातीतमूर्त्तिर्न वससि हृदये कस्य लोकत्रयेऽस्मिन्
नो केषां चित्रमेतद्विभवपदपरोऽप्यर्च्यसे यन्मुनीन्द्रैः ॥ ३७ ॥

सौख्यं मोहक्षयेणावृतियुगगमनाद् दृष्टिबोधावपि स्तो
वीर्यं विघ्नव्ययेनोद्गमविगमहतिर्थायुरुच्छेदनेन ।
नामोच्छित्तेरमूर्त्ता स्थितिसमयगुरुलाऽसंगमो गोत्रनाशा-
द्वेद्योच्छेदाद्दशेषेन्द्रियजनितसुखातंकसंपर्कहानिः ॥ ३८ ॥

दृष्टिज्ञानं गुणौ द्वाविह विनिगदितावात्मनि प्रात्ततत्त्वै-
स्ताविव प्रासवंतौ विविधविधिसयोत्कर्षभावाद्वहुत्वम् ।
यद्गौतभावमत्र प्रकृतगुणयुगे यातिं कश्चिन्न धर्मः
सौक्ष्म्यभद्वावगाहाऽगुरुलघुगुणताऽव्याध्यताद्यविरोधः ॥ ३९ ॥

मुक्तौ नापूर्वमाप्यं किमपि सुकृतिभिर्येतितात्मरूप-
मास्ति प्राहुः प्रणीताखिलनिगमनया केवलज्ञानभाजः ।
सूक्ष्मास्तेषां जिनेन्द्रोदितमतमहितज्ञानसाम्राज्यसंप-
त्संपन्नाः सर्वसत्त्वोत्पलविपिनमुदे सोमदेवाश्च साक्षात् ॥ ४० ॥

इति श्रीसोमदेवाचार्यप्रणीताऽध्यात्मतरंगिणी समाप्ता ।

---

१ यो हि सकलार्थव्यापनशीलः नैव सर्वगत इत्यनुमानविरोधश्चेत्तदेदमनुमानं त्विदः सर्वगतः सकलार्थव्यापित्वाभावात्सकलार्थव्यापित्वमित्यर्थं तस्मात्सर्वगत इति न न ज्ञानरूपेणैव जैनैः सकलार्थव्यापित्वप्रतिज्ञानात्परमर्षिरेवमुक्तं "आत्मा ज्ञानप्रमाणो ज्ञानं ज्ञेयप्रमाणमुद्दिष्टं । ज्ञेयं लोकालोकं तस्माज्ज्ञानं हि सर्वगतं ॥" ज्ञानात्मकत्वेन निखिलार्थव्यापिनोऽपि न मुक्तात्मनः सर्वगतत्वमिति विरोधाभावार्थः । २ कार्यमुक्ताद्यं नेदव एवं स्वभावो यस्य स निश्चयोऽनश्वर कथं ? वस्तुना हानिवृद्धिशालित्वार्थस्य शुद्धद्रव्यार्थिकनयापेक्षया नित्य इति न विरोध ॥ ३ उक्तौ । ४ नानाकार्यरूपतया । ५ पश्यति । ६ न प्राप्यं, अपूर्वं नयप्रमाणसंवादं परकल्पितमित्यर्थं । ७ जिननाथस्मिन्नितनयमत्कारादध्यात्मराज्यस्त्वोध-सार्वभौमपदेश्वराः । सर्वजीवा एवोत्पलविपिनं पद्मसमूहस्तस्य मुदे हर्षाय ॥

नमः श्रीवीतरागाय जिनाय ।

पात्रकेसरिस्तोत्रम् ।

सटीकं

जिनेन्द्र ! गुणसंस्तुतिस्तव मनागपि प्रस्तुता
भवत्यखिलकर्मणां प्रहतये परं कारणम् ।
इति व्यवसिता मतिर्मम ततोऽहमत्यादरात्
स्फुटार्थनयपेशलां सुगत ! संविधास्ये स्तुतिम् ॥ १ ॥

टीका—श्रीवर्द्धमानमानम्य संसारार्णवतारणम् ।
वृहत्पंचनमस्कारपदं विव्रियतेऽधुना ॥

जिनानां देशतः कर्मोन्मूलकानां गणधरदेवादीनामिन्द्र स्वामिन् ! तव गुणसंस्तुतिर्गुणानां केवलज्ञानादीनां समीचीना मनोवाक्कायविशुद्धिपूर्विका स्तुतिर्मनागपि स्तोकाऽपि प्रारब्धा कृता भवति संपद्यते। किं, कारणं। कथंभूतं, परमुत्कृष्टं। किमर्थं, प्रहतये विनाशाय। केषामखिलकर्मणामिति हेतोर्व्यवसितोद्योगं कृतवती। काऽसौ, मतिः। कस्य, मम स्तोतुस्ततस्तस्मान्मतेर्व्यवसायात् अहमत्यादरात् भक्तिप्रकर्षात्संविधास्ये करिष्ये। कां, स्तुतिं। कथंभूतां, स्फुटार्थनयपेशलां स्फुटो व्यक्तः संशयादिरहितोऽर्थो येषां ते च ते नयाश्च तैः पेशलां मनोज्ञां। कथंभूत जिनेन्द्र, सुगत शोभनं गतं ज्ञानं यस्य। पृथ्वीच्छन्दोलक्षणं वृत्तरत्नाकरे यथा " जसौ जसयलावसुग्रहयतिश्च पृथ्वी गुरुः " इति ॥ १ ॥

तामेव स्तुतिं विदधानो मतिरित्याद्याह;—

मतिः श्रुतमथावधिश्च सहजं प्रमाणं हि ते
ततः स्वयमबोधि मोक्षपदवीं स्वयंभूर्भवान् ।
न चैतदिह दिव्यचक्षुरधुनेक्ष्यतेऽस्मादृशां
यथा सुकृतकर्मणां सकलराज्यलक्ष्म्यादयः ॥ २ ॥

मतिरित्यादि । मतिश्च श्रुतं च मतिश्रुतमथ तथाऽनन्तरं चाऽवधिश्चैतत्प्रमाणत्रयं ते तव सहजं सहोत्पन्नं हि स्फुटं ततः प्रमाणत्रयात् स्वयं परोपदेशमन्तरेण अबोधि बुद्धवान् । कां, मोक्षपदवीं मोक्षस्य पदवीं मार्गः सम्यग्दर्शनाद्यात्मकस्तां, अतः स्वयंभूर्भवान् स्वयं परोपदेशमन्तरेण मोक्षमार्गं ज्ञात्वा अनुष्ठाय चानन्तचतुष्टयरूपतया भवतीति स्वयंभूः । नन्विदं ज्ञानत्रयमिदानीमस्मदादीनामपीह भविष्यतीति ततः कथं भगवतो विशिष्टो गुणः स्तुतः स्यादित्यत्राऽऽह, न चेत्यादि । न च नैवमेतदनंतरोक्तं विशिष्टज्ञानत्रयमिष्यते दृश्यते । कथंभूतं, दिव्यचक्षुः चक्षुरिव चक्षुः पदार्थस्वरूपप्रकाशने निमित्तत्वात् दिव्यं सामान्यप्राणिनामसंभवित्वात् तच्च तच्चक्षुश्चेह क्षेत्रेऽधुनेदानीमस्मादृशां छद्मस्थानां । अत्रैवं दृष्टान्तमाह— यथेत्यादि, अयमर्थः— सुकृतकर्मणां विशिष्टपुण्यवतां चक्रवर्त्यादीनां सम्बन्धिन्यः सकलराज्यलक्ष्म्यादयो यथात्रेदानीमस्मादृशां नेष्यन्ते तथा तदपि ॥ २ ॥

भगवतः कश्चिद्रागद्वेषसद्भावे परमेष्ठिता न विरुद्ध्यत इत्याह,—

व्रतेषु परिरज्यसे निरुपमे च सौख्ये स्पृहा
बिभेष्यपि च संसृतेरसुभृतां वधं द्वेक्ष्यपि ।
कदाचिदुदयाश्रयो विगतचित्तकोऽप्यप्रभसा
तथाऽपि गुरुरिष्यसे त्रिभुवनैकबन्धुर्जिनः ॥ ३ ॥

व्रतेष्वित्यादि । व्रतेष्वहिंसादिषु परिसमन्ताद्रज्यसेऽनुरागं करोषि; निरुपमे चोपमातिक्रान्ते च सौख्ये मोक्षसुखे स्पृहाऽभिलाषः; बिभेष्यपि

च भयमुपगच्छस्यपि च संसृतेः संसारात् असुभृतां प्राणिनां वधे हिंसां द्वेक्ष्यपि प्रतिषेधस्यपि; कदाचित्कषायेन्द्रियकालेऽद्‌योदयः न दयाऽदया हिंसा तस्या उदय उत्पादो यत्र। किंविशिष्टोऽपि, विगताचित्तकोऽपि विगतं विनष्टं चित्तं भावरूपं यस्य ततो अमनस्काः केवलिन इति वचनात्; अंजसा परमार्थेन तथाऽपि रागलोभद्वेषदुष्प्रकारेणापि गुरुः परमात्मा इष्यसे सः। किंविशिष्टस्तु जिनोऽशेषकर्मोन्मूलकः। पुनरपि किंविशिष्टस्त्रिभुवनैकबन्धुः॥३॥

कथंभूतस्य भवतः केवलमभूदित्याह;—

> तपः परमुपाश्रितस्य भवतोऽभवत्केवलं
>
> समस्तविषयं निरक्षमपुनश्च्युति स्वात्मजम्।
>
> निरावरणमक्रमं व्यतिकराद्व्यपेतात्मकं
>
> तदेव पुरुषार्थसारमभिसम्मतं योगिनाम्॥ ४॥

तप इत्यादि;—भवतो जिनस्याभवत्संजातं। किं तत्केवलं केवलज्ञानं, कथंभूतस्योपाश्रितस्य सेवितवत.। किं तत्तपः। किंभूतं, परमुत्कृष्टमेकत्ववितर्कशुक्लध्यानलक्षणं। किंविशिष्टं, केवलं समस्तविषयं समस्ता अखिला विषया यस्मिन्तत्, निरक्षमक्षेभ्य इन्द्रियेभ्यो निष्क्रान्तं निरक्षमतीन्द्रियमित्यर्थः, अपुनश्च्युति न विद्यते पुन. पश्चात् च्युतिर्विनाशो यस्य, स्वात्मजं स्वस्य जीवस्यात्मा प्रक्षीणावरणस्वभावस्तस्माज्जातमत एव निरावरणं, अक्रमं युगपत्सर्वार्थग्राहि निरक्षत्वात, व्यतिकराद्व्यपेतात्मकं शुक्लादेः पीतादितया ग्रहणं व्यतिकरस्तस्माद्व्यपेत आत्मस्वभावो यस्य। क्लतेन पुरुषार्थं इत्याह तदेवेत्यादि– तदेव केवलज्ञानमेव पुरुषार्थानां धर्मादीनां मध्ये सारं प्रधानभूतं अभिसम्मतं योगिनाम्॥ ४॥

ननु यदि समुत्पन्नकेवलज्ञानो भगवान्कथं तदेवास्ति तदेव च नास्तीत्यादि तदीयवचोविरोध इत्याशंकां निराकुर्वन्नाह;—

> परस्परविरोधवद्विविधभङ्गशाखाकुलं
>
> पृथग्जनसुदुर्गमं तव निरर्थकं शासनम्।

तथापि जिन ! सम्मतं सुविदुषां न चात्यद्भुतं
' भवन्ति हि महात्मनां दुरुदितान्यपि ख्यातये ' ॥ ५ ॥

परस्परविरोधेत्यादि;—हे जिन ! तव शासनं वचनं, कथंभूतं, निरर्थकं सदेवासदेव चेत्याद्येकान्तरूपार्थाभिधेयाभिष्क्रान्तं परस्परविरोधवद्विविधभंगशाखाकुलं परस्परमन्योन्यं विरोधः परस्परपरिहारस्थितिलक्षणः स येषां विद्यते ते च ते विविधभंगाश्चास्तित्वनास्तित्वादिविकल्पास्त एव शाखास्ताभिराकुलमाकीर्णं, पृथग्जनसुदुर्गमं पृथग्जना हेयोपादेयविवेकशून्यहृदयास्तैः सुदुर्गमं सुष्ठु दुरवबोधं तथाप्येवंविधनिरर्थकत्वप्रकारेण स्थितमपि तव शासनं सम्मतमभिप्रेत । केषां, सुविदुषां शोभनपण्डितानां । न च नैवात्यद्भुतमाश्चर्यभूतमेतत्कुत इत्याह, भवन्ति हीत्यादिना– हि यस्माद्भवन्ति संपद्यन्ते महात्मनां सातिशयज्ञानवतां दुरुदितान्यपि परस्परविरुद्धवचनान्यपि ख्यातये प्रसिद्धये प्रमाणोपपन्नत्वात्; अत्रार्थान्तरन्यासालङ्कारः तल्लक्षणं हि यथा—*उक्तिरर्थान्तरन्यासः स्यात्सामान्यविशेषयोरिति* ॥ ५ ॥

इदानीं सपरिग्रहत्वनिःपरिग्रहत्वयोर्भगवत्यविरोधं दर्शयन्नाह,—

सुरेन्द्रपरिकल्पितं बृहदनर्घ्यसिंहासनं
तथाऽऽतपनिवारणत्रयमथोल्लसच्चामरम् ।
वशं च भुवनत्रयं निरुपमा च निःसंगता
न संगतमिदं द्वयं त्वयि तथाऽपि संगच्छते ॥ ६ ॥

सुरेन्द्रेत्यादि—सुरेन्द्रैः परिकल्पितं रचितं । किं तत्, बृहदनर्घ्यसिंहासनं बृहन्महदनर्घ्यममूल्यं तच्च तत्सिंहासनं तथा तेनैव प्रकारेणातपनिवारणत्रयं छत्रत्रयं, अथानन्तरमुल्लसच्चामर चतुःषष्टिसंख्यं, वशं च भुवनत्रयं, " आज्ञाधीनं जगत्त्रयं " निरुपमा चोपमारहिता निःसंगता निःपरिग्रहता न संगतं न पुनः विरुद्धमिदमनन्तरोक्तं सिंहासनादिविभूतिमत्त्वं निःसं-

गतत्वं च तथाऽपि विरुद्धप्रकारेणापि त्वयि भगवति सङ्गच्छते घटते त्वन्माहात्म्यस्य तादृशत्वात् ॥ ६ ॥

तथेदं विरुद्धमपि भगवति संगच्छत इत्याह;—

त्वमिन्द्रियविनिग्रहप्रवणनिष्ठुरं भाषसे
तपस्यपि यातयस्यनघदुष्करे संश्रितान् ।
अनन्यपरिदृष्टया षड्सुकायसंरक्षया
स्वनुग्रहपरोऽप्यहो ! त्रिभुवनात्मनां नापरः ॥ ७ ॥

त्वमित्यादि, —त्वं भगवन् ! भाषसे निष्ठुरमिन्द्रियविषयप्रवृत्तिनिरोधकं । कथंभूतं, इन्द्रियविनिग्रहप्रवणं इन्द्रियाणां विशेषेण निग्रहः स्वविषये प्रवृत्तिनिरोधस्तत्र प्रवणं दक्षं न केवलं भाषसे किन्तु 'यातयसि क्लेशयसि यत्नवतो करोषि "यती प्रयत्ने" धातोर्ण्यन्ते रूपं" क्व, तपसि, किंविशिष्टे, दुष्करे दुश्चरे । किंविशिष्टोऽनघः । कान्, संश्रितान् । कया, षड्सुकायसंरक्षया षड्जीवप्राणिदयया । कथंभूतयाऽनन्यपरिदृष्टयाऽन्यैरीश्वरादिभिरप्रतीतया । कथंभूतोऽपि, स्वनुग्रहपरोऽपि । केषां, त्रिभुवनात्मनां अहो भगवन् ! यत एव त्वं तेषामनुग्रहपरोऽत एव तद्भाषसे, ईश्वरादिरपि कश्चित्तेषामनुग्रहपरो भविष्यतीत्याह— नापरो न द्वितीयस्त्वमेवेत्यर्थः ॥ ७ ॥

यथेश्वरस्तुष्टः स्तुतिपरेषु सुखं सम्पादयति तद्विपरीतेषु च दुःखं न स भगवान्तस्य तोषरोषयोरभावेऽपि तत्सम्पादनसामर्थ्यसंभवादिति दर्शयन्नाह;—

ददास्यनुपमं सुखं स्तुतिपरेष्वतुष्यन्नपि
क्षिपस्यकुपितोऽपि च ध्रुवमसूयकान्दुर्गतौ ।
न चेश ! परमेष्ठिता तव विरुध्यते यद्भवान्
न कुप्यसि न तुष्यसि प्रकृतिमाश्रितो मध्यमाम् ॥ ८ ॥

ददासीत्यादि—ददासि । किं तत्, सुखं कथंभूतमनुपमं । केषु, स्तुतिपरेषु स्तवनतत्परेषु । कथंभूतोऽप्यतुष्यन्नप्यहमेभिः स्तुत इति चित्ते प्रसत्तिमकुर्व-

यदि, तथाऽकुपितोऽपि च कोपरहितोऽपि क्षिपसि प्रेरयसि भुवमवश्य-भावेन । क, दुर्गतौ । कामप्युपकान् स्वद्रूपाससहिष्णून्, तर्हि निग्रहानुग्रहौ कुर्वतस्तव परमेष्ठितविरोधो न भविष्यतीत्यत्राह न चेत्यादि;—न चेष्टा परमेष्ठिता विरुध्यते । कुतो, यद्यस्माद्भवान् कुप्यति न तुष्यति प्रकृतिं स्वभावमाश्रितः, किंविशिष्टां, मध्यमां मध्यस्थरूपामिति ॥ ८ ॥

अधुना तपोनिधेरत्यन्तस्थायी भगवतोऽनन्यसाधारणान् धर्मान् कथयन्नाह;—

परिक्षपितकर्मणस्तव न जातु रागादयो
न चेन्द्रियविवृत्तयो न च मनस्कृता व्यावृतिः ।
तथाऽपि सकलं जगद्युगपदञ्जसा वेत्सि च
प्रपश्यसि च केवलाभ्युदितदिव्यसच्चक्षुषा ॥ ९ ॥

परिक्षपितेत्यादि,—परि समन्तात् निःशेषतः क्षपितकर्मणो विनाशित-घातिकर्मचतुष्टयस्य तव जिनेन्द्रस्य न जातु कदाचिदपि रागादयो नाऽतीन्द्रियविवृत्तय इन्द्रियाणां स्पर्शनादीनां विशिष्टवृत्तयो यथा स्वसमर्थ-ग्रहणव्यापारा निमेषोन्मेषादयो वा न च मनस्कृता मनःपूर्विका व्यावृति-श्चेष्टा, तथापीन्द्रियमनोव्यापाराभावप्रकारेणापि ज्ञानावरणादिप्रक्षयप्रभव-ज्ञानेन समस्तं जगद्युगपदेकहेलया वेत्सि च जानास्येव । न केवलं वेत्स्येव किन्तु प्रपश्यसि । केन कृत्वा, केवलेत्यादि—केवलशब्देन केवलज्ञानं केवलदर्शनं च गृह्यते तदेवाभ्युदिते अभि आभिमुख्येन सकलार्थसाक्षा-त्कारिलक्षणेनोदिते प्रादुर्भूते दिव्यमन्यजनासंभवि सत्समीचीनं चक्षु-स्तेनेति ॥ ९ ॥

तथा कर्मप्रक्षयाद्भगवतः सम्पन्नं तद्दर्शयन्नाह,—

क्षयाच्च रतिरागमोहभयकारिणां कर्मणां
कषायरिपुनिर्जयः सकलतत्त्वविद्योदयः ।

[illegible]
[illegible] ॥ [illegible] ॥

[illegible]

[illegible]

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible] ॥ [illegible] ॥

[illegible]

माद्नुपलंभाद्गवति, अतोऽप्येवंविधवचनादपि हेतोर्न केवलमनन्तरोक्त-गुणोपेतत्वात् भगवन् ! इन्द्राभिपूज्यविशिष्टज्ञानेन वा संपन्नपरमेष्टितायाः परमात्मतायाः पदं स्थानं त्वमेव नान्य इति ॥ ११ ॥

ननु वितथकारणं मे नास्तीति भवतैतत्कुतो निश्चितमिति भगवत्पर्यनु-योगे सति चाचार्यः आह;—

> न लुब्ध इति गम्यसे सकलसंगसंन्यासतो
> न चाऽपि तव मूढता विगतदोषवाग्यद्भवान् ।
> अनेकविधरक्षणादसुभृतां न च द्वेषिता
> निरायुधतयाऽपि च व्यपगतं तथा ते भयम् ॥ १२ ॥

न लुब्ध इत्यादि,—लुब्धः परिग्रहेष्वासक्त इत्येवं न गम्यसे न प्रतीयसे । कुतस्तत्र कारणमाह—सकलसङ्गसन्यासतः समस्तपरिग्रहपरित्यागात्, न चाऽपि तव मूढताऽप्यज्ञानताऽपि । कुतो, विगतदोषवाक् यद्भवान् विगता विनष्टा दोषाः पूर्वापरविरोधादयो यस्यास्तादृशी वाक् यस्यासौ विगतदोषवाक् यद्यस्मात्कारणात् भवान् भगवान्, न च नैव द्वेषिता क्रोधिताऽनेकविधरक्षणात् अनेकप्रकारेण व्रतसमितिगुप्त्यादिलक्षणेन पालनात् । केषामसुभृतां प्राणिनां, तथा भयमपि साध्वसमपि व्यपगतं नष्टं । कया, निरायुधतया निरस्तसमस्तप्रहरणतया चेति ॥ १२ ॥

अत्र विगतदोषवाक्त्वं मे कथं सिद्धमिति भगवदाशङ्कां स्तोतुः प्रज्ञाति-शयपरीक्षार्थं प्रवृत्तामिव निराकुर्वन्नाह;—

> यदि त्वमपि भाषसे वितथमेवमाप्तोऽपि सन्
> परेषु जिन का कथा प्रकृतिलुब्धमुग्धादिषु ।
> न चाऽप्यकुलकारिका वचनसंहतिर्दृश्यते
> पुनर्जननमप्यहो ! न हि विरुध्यते युक्तिभिः ॥ १३ ॥

यदीत्यादि;—यदि त्वमपि न केवलमीदृशो जन इत्यपिशब्दार्थः, वितथमेवासत्यमेव भाषसे वदसि । कथंभूतोऽप्याप्तोऽपि सन् वीतरागत्वसर्वज्ञ-

स्यादिगुणोपेतोऽपि सर्वेषं प्रागुक्तप्रकारेण तथा परेष्वसमादृषु हे जिन ! का कथा सत्याभिधानेन का वार्ता ? किंविशिष्टेषु, प्रकृतिलुब्धमुग्धादिषु प्रकृत्या स्वभावेन लुब्धा मुग्धाभ्यादिशब्देन भीतद्विष्टादिपरिग्रहः । अत्राऽऽह मीमांसकः, आगमलक्षणाया वचनसंहतेरपौरुषेयतया केनचित्कारणासंभवात्संभवतो विगतदोषत्वात्सा ततः कथं सिद्धमिति, तदयुक्तमित्याह—न चेत्यादिना । न च दृश्यते प्रमाणतः प्रतीयते । काऽसौ, वचनसंहतिः । कथंभूताऽकृतकात्मिका अपौरुषेयाऽपि लौकिकवचनसंहतेरिव वैदिक्या अपि तस्याम्नानादिव्यापारगतया तथा कृतकात्मत्वोपपत्तेः । एतदेवाह पुनरित्यादिना— विवस्माच विरुद्धयते । किं पुनर्जननमपि न केवलमभिव्यक्तिः किन्तु मुक्तिरपि स्वयं विरुद्धयत इति ॥ १३ ॥

एतदेव दर्शयन्नाह—

न जन्ममरणादिनिग्रहणकारितामधुलै-
स्तनकपयस्थितिप्रतिनियामकत्वदर्शनात् ।
कलादिपुरुषप्रवृत्तिविनिवृत्तिसंदर्शनतो
ध्रुवेश मनुष्यपयःपुरुषकर्तृकैव श्रुतिः ॥ १४ ॥

न जन्मेत्यादि । न जन्ममरणादिवच तद्वर्षं च तत्स्वरूपं च मन्वादिकेषां मनुष्याणां तेषां नाम संज्ञा तस्य श्रुतेः श्रवणात् पुरुषकर्तृकैव । का, श्रुतिः वेदो नाम श्रुतम् तत्पुरुषकर्तृकं इष्टं यथा मनुस्मृतिः तथा वेद [illegible] । तथा लौकिकदृष्टप्रतिनियामकदर्शनात् अनेकानि च [illegible] पदानि पुरुषप्रवृत्तिदृष्टानि [illegible] प्रतिनियामः कारणस्य [illegible] । न [illegible] किन्तु [illegible] पुरुषप्रवृत्तिविनिवृत्तिं [illegible] श्रुतेः [illegible] पुरुषाख्य तेषां [illegible] आगमः [illegible] ॥ १४ ॥

नन्वात्मनि सिद्धे तस्य सर्वज्ञत्वादिगुणोपेतत्वमागमप्रणेतृत्वं च सिद्ध्येत्, न चासौ सिद्धस्तत्प्रमाणाभावादिति चार्वाकः, तमेव निराकुर्वन्नाह;—

स्मृतिश्च परजन्मनः स्फुटमिहेक्ष्यते कस्यचि-
त्तथाप्तवचनान्तरात्प्रसृतलोकवादादपि ।
न चाऽप्यसत उद्भवो न च सतो निर्मूलात्क्षयः
कथं हि परलोकिनामसुभृतामसत्त्वोद्यते ॥ १५ ॥

स्मृतिश्चेत्यादि—परजन्मनः पूर्वभवस्य स्मृतिः स्मरणं च स्फुटमसंशयं कस्यचित्प्राणिन इह लोके ईक्ष्यते अतः । कथं, स्फुटमसत्ता नास्तित्वं चार्वाकैरुच्यत उत्पाद्यते तथा प्रसृतलोकवादादपि प्रसृतः प्रसिद्धः प्रवृत्तो वा ' पूर्वमेवंविधमेतैः सुकृतं कृतं येन सुखेन तिष्ठन्ति एतैश्च दुष्कृतं कृतं येन दुःखेन क्लिश्यन्ति ' इत्यादिरूपस्तथाऽपि परजन्म नेष्यतेऽतः कथं तेषामसत्त्वोद्यते प्रतिपाद्यते वा । केषामसुभृतां परलोकिनामतीतभवादागतानां भाविभवं गमिष्यतां तथा तेनैव प्रकारेणाऽऽप्तवचनान्तरात् ' अत्थि जीवो अणाइ-णिहणो ' इत्याद्यागमादपि तेषां परजन्मेष्यतेऽतः कथमसत्त्वोद्यते । यदु-च्यते चार्वाकैः कायाकारपरिणतेभ्यः पृथिव्यादिभ्यश्चैतन्यमभ्युदयते तच्च कियत्कालमवस्थाय निर्मूलं प्रतीयत इति तदयुक्तमित्याह—न चेत्यादिना— न च सर्वथाऽसत उद्भवः खरविषाणवत् न च सतो निर्मूलात् क्षयः पृथि-व्यादितत्त्ववत्, द्रव्यरूपतया सतः पर्यायरूपतया स्वस्वभावेनस्योत्पाद-विनाशाभ्युपगमे जैनमतसिद्धिरिति ॥ १५ ॥

चैतन्यं चतुर्णां भूतानां कार्यं धर्मो वेति तद्द्वयं निराकुर्वन्नाह,—

न चाऽप्यनुपलब्धितो न च सदेव वा दृश्यते
सुरादिमदवत्तथा क्षितिजलादिपर्यैर्विवक्ष्यवत् ।
क्वचिन्मृतकदेहनाशं पिठरादिके नेष्यते
कथं क्षितिजलादितश्चिदुपजायते चेतना ॥ १६ ॥

न चेत्यादि;—न चाऽसदप्युदीयत उत्पाद्यते चैतन्यं, किंवत्, सुराङ्ग मद्वत् सुरा मद्यं तदङ्गानि कारणानि पिष्टोदकगुडधातक्यादीनि तेभ्यो यथाऽत्यन्तमसन्नेव मदो मदशक्तिरुत्पद्यते तथाभूतेभ्यश्चैतन्यमिति तर्हि सदेवाऽभिव्यज्यते तदित्यत्राह न चेत्यादिना—न च तथा सर्वथा सदेव वा व्यज्यते किंवत् शिखिकलापवैचित्र्यवत्, न हि शिखिनो मयूरस्य कलाप-वैचित्र्यं सर्वथा सदभिव्यज्यते किन्तु कथंचित्तथा चैतन्यमपि कथंचि-त्सदभिव्यज्यतां। तथा च जैनमतसिद्धिरेतेन देहगुणश्चेतन इति मतं प्रत्याख्यातं यस्मात्कचिन्मृतकरंधनार्थपिठरादिके नेष्यते साऽतः कथं क्षितिजलादिसंघगुण इष्यते चेतनेति ॥ १६ ॥

इदानीं भगवतो वीतरागं वपुः स्तुवन्नाह;—

प्रशान्तकरणं वपुर्विगतभूषणं चाऽपि ते
  समस्तजनचित्तनेत्रपरमोत्सवत्वं गतम्।
विनाऽऽयुधपरिग्रहाज्जिन ! जितास्त्वया दुर्जयाः
  कषायरिपवो परैर्न तु गृहीतशास्त्रैरपि ॥ १७ ॥

प्रशान्तकरणमिति—वपुः शरीरं। कथंभूतं, प्रशान्तकरणं प्रशान्तानि शान्तिं प्राप्तानि करणानीन्द्रियाणि यस्मिन्तत्। पुनः कथंभूतं, विगतभूषणं विगतानि प्रयातानि भूषणान्याभरणानि यस्मिन्तत्। एवं च तर्हि कस्याऽपि वल्लभं न स्यादित्याशङ्कायां समस्तेत्यादिनाऽऽह-समस्तजनचित्तनेत्राणां निखिल-प्राणिमानसलोचनानां परम उत्कृष्ट उत्सवः प्रमोदो यस्मात्तस्य भावस्तत्त्वं तद्गतं प्राप्तमेवंविधशरीरसंयुक्तेन त्वया किं कृतं ? हे जिन ! त्वया जिनेन जिताः। के, कषायरिपवः क्रोधमानमायालोभा एव रिपवः शत्रवः। कथंभूता, दुर्जयाः दुःखेन जेतव्याः। कथं जिताः, विनाऽऽयुधपरिग्रहात् शस्त्रादिधारणं विनैव। अपरैरपि जिना भविष्यन्तीत्याशङ्कायामाह परैरित्यादिना अपरैर्ह-रिहरादिभिस्तु न जितास्ते। किंविशिष्टैरपि, धापनिशूलादिशस्त्राणि धारिभि-रपि इति ॥ १७ ॥

एवं कषायजयलक्षणममात्यातिशयं प्रतिपाद्य केवलज्ञानलक्षणं मास्यतिशयं प्रतिपादयन्नाह;—

> धियान्तरतमार्थवद्गतिसमन्वयान्वीक्षणा-
> द्भवेत्खपरिमाणवत्क्वचिदिह प्रतिष्ठा परा।
> प्रहाणमपि दृश्यते क्षयवतो निमूलात्क्वचि-
> त्तथाऽयमपि युज्यते ज्वलनवत्कषायक्षयः॥ १८॥

धियान्तरतमेति;—इह जगति क्वचित्पुरुषविशेषे धियां बुद्धीनां प्रतिष्ठाऽवस्था परा भवेत्। कुतः, तरतमार्थवद्गतिसमन्वयान्वीक्षणात् तरतमार्थोऽतिशायनं स विद्यते ययाः सा चासौ गतिश्च प्रवृत्तिस्तया समन्वयोऽनुगमस्तस्यान्वीक्षणात् सन्दर्शनात्। किं वत्, खपरिमाणवत्। अयमर्थः—यथा आपरमाणोः परिमाणं प्रवर्द्धमानं नमसि परां प्रतिष्ठां प्रतिपद्यते तथा आस्थावरेभ्यो बुद्धिः प्रकृष्यमाणा प्रक्षीणशेषावरणपुरुषे परां प्रतिष्ठां प्रतिपद्यत इति। ननु धियां परमातिशयो ज्ञानावरणादिप्रक्षये भविष्यति। स कुतः सिद्ध इत्याह प्रहाणमित्यादिना—प्रहाणमपि दृश्यते। कस्य, क्षयवतः किट्टकालिकादेर्निर्मूलात्सर्वथा क्वचित्सुवर्णादौ यथा तथाऽयमपि युज्यते ज्वलनवत्कषायक्षयः। इदमत्र तात्पर्यं, यथा ज्वलनस्याग्नेरुदकप्रवाहादिना प्रक्षयस्तथा सम्यग्दर्शनादिना कषायाणामिति॥ १८॥

ननु सर्वज्ञतालक्षणातिशयस्यात्यन्तासंभाव्यत्वात् कथं भगवति तत्कल्पना स्यादित्याशङ्कां निराकुर्वन्नाह;—

> अशेषविदिहेक्ष्यते सदसदात्मसामान्यवि-
> ज्जिन! प्रकृतिमानुषोऽपि किमुताखिलज्ञानवान्।
> कदाचिदिह कस्यचित्क्वचिदपेतरागादिता
> स्फुटं समुपलभ्यते किमुत ते व्यपेतैनसः॥ १९॥

अशेषविदिति,—हे जिन! इह जगति अशेषविदिष्यते। कोऽसौ, प्रकृतिमानुषोऽपि सामान्यजनोऽपि। कथंभूतः सन्, सदसदात्मसामान्यवित्

सदसत्स्वभावाभ्यामखिलजगन्निश्चायकः किमुत किं पुनरखिलज्ञानवान् भगवान् सर्वज्ञो नेष्यते । अधुना सर्वे पुरुषाः सर्वदा रागादिमन्त एवेत्येकान्तं निराकुर्वन्नाह, कदाचिदित्यादिना-कदाचिदिह जगति कस्यचिन्मन्दकषायस्य क्वचित्कस्मिंश्चितप्रसत्तिहेतौ प्रदेशेऽपेतरागादिता स्फुटं यथा भवति तथा समुपलभ्यते किमुत ते जिनस्य । किं लक्षणस्य, व्यपेतैनसःध्वस्तक्लेशस्येति ॥ १९ ॥

साम्प्रतं युक्तिशास्त्राविरोधिवक्तृत्वं भगवतः सर्वज्ञतायां चिह्नमित्याह;-

अशेषपुरुषादितत्त्वगतदेशनाकौशलं
त्वदन्यपुरुषान्तरानुचितमाप्ततालाञ्छनम् ।
कणादकपिलाक्षपादमुनिशाक्यपुत्रोक्तयः
स्खलन्ति हि सुचक्षुरादिपरिनिश्चितार्थेष्वपि ॥ २० ॥

अशेषेत्यादि,-अशेष च तत्पुरुषादितत्त्वं तस्मिन्गतं यद्देशनायाः प्रतिपादनस्य कौशलं चातुर्यं । कथम्भूतं, त्वदन्यपुरुषान्तरानुचितं त्वदन्यानि पुरुषान्तराणीश्वरादीनि तेष्वनुचितमयोग्यं । तत्किं ? आप्ततालाञ्छनं । ननु कणादादेः कस्मान्न तच्चिह्नमित्याह कणादेत्यादिना-कणादकपिलाक्षपादादीनामुक्तयः शास्त्राणि स्खलन्ति प्रमाणेन प्रतिहन्यन्ते हि स्फुटं । केषु, सुचक्षुरादिपरिनिश्चितार्थेष्वपि सुष्टु चक्षुरादिभिरिन्द्रियैः परि समन्तान्निश्चितार्थेष्वपि निश्चयं प्राप्तेष्वप्यर्थेषु न केवल सूक्ष्मान्तारितदूरार्थेष्वेवेति निर्गलितोऽर्थ इति ॥ २० ॥

तदेव तदुक्तीनां स्खलन दर्शयन्नाह,-

परैरपरिणामकः पुरुष इष्यते सर्वथा
प्रमाणविषयादितत्त्वपरिलोपनं स्यात्ततः ।
कषायविरहाच्च चाऽस्य विनिबन्धनं कर्मभिः
कुतश्च परिनिर्वृतिः क्षणिकरूपतायां तथा ॥ २१ ॥

परीत्यादि-परैर्वैशेषिकादिभिः पुरुषो जीव इष्यते । कथंभूतोऽपरिणामकः परिणामरहितः । कथं, सर्वथा नित्यं । ततः किं, प्रमाणविषयाद्वितत्त्वपरिलोपनं पारिणामित्वे सत्येव ह्यात्मनोऽप्रमातृत्वादिरूपपरित्यागेन प्रमातृत्वादिरूपसंभवात् । तथा कर्मबन्धोऽप्येवंविधस्यात्मनो न संभवतीति दर्शयन् कषायेत्यादिनाऽऽह-स चाऽस्य सर्वथाऽपरिणामिनो जीवस्य विशेषेण निबन्धनं सम्बन्धः । कैः, कर्मभिः । कुतः, कषायविरहात् कषायरहितत्वात् । सकषायो हि जीवः कर्मभिः सम्बध्यते । बन्धाभावात् किं, कुतश्चिरारीनिर्वृतिर्मुक्तिर्बन्धपूर्वकत्वान्मोक्षस्य, तथा तेनैव प्रकारेण क्षणिकरूपतायां तत्परिलोपनं तद्भावश्च स्यात् इति ॥ २१ ॥

इदानीं सांख्यमतमाशङ्क्य दूषयन्नाह,—

मनो विपरिणामकं यदिह संसृतिं चाश्नुते
तदेव च विमुच्यते पुरुषकल्पना स्याद् वृथा ।
न चाऽस्य मनसो विकार उपपद्यते सर्वथा
ध्रुवं तदिति दीप्यते द्वितयवादिता कोपिनी ॥ २२ ॥

मन इत्यादि—" मनश्चित्तं विपरिणामकं विविधपरिणामोपेतं यदि च संसृतिं च संसारं चतुर्गतिलक्षणमश्नुते व्याप्नोति तदेव च मनो विमुच्यते मुक्तं भवतीति सांख्यैरभ्युपगम्यते " तदा पुरुषकल्पना स्याद्वेद वृथा प्रयोजनाभावात् । यदेवं परिणामित्वं मनसः सिद्धमेवेदा संसारमोक्षौ स्यातां न च तत्सिद्धमिति दर्शयन्नाह न चेत्यादिना—न चाऽस्य संसारमोक्षाधाराधारतयाऽभ्युपगतस्य मनसो विकारः परिणामः सर्वथोपपद्यते घटते । कुतः, ध्रुवं नित्यं तन्मन इत्येवमिष्यते, हि यस्मात्तहि सर्वथा नित्यं परिणामि च मनोऽभिदधतयाऽऽह—द्वितयवादिता कोपिनी विरोधिनीति ॥ २२ ॥

इदानीं बौद्धानां स्वाभ्युपगमादिति विरोधं दर्शयन्नाह,—

पृथग्जनमनोनुकूलमपरैः कृतं शासनं
सुखेन सुखमाप्यते न तपसात्मदण्डेन्द्रियैः ।

प्रतिक्षणविभंगुरं सकलसंस्कृतं चेष्यते
ननु स्वमतलोकलिंगपरिनिश्चयैर्व्याहतम् ॥ २३ ॥

पृथग्जनेति—पृथग्जना रागादिमन्तस्तेषां मनोऽनुकूलं मनोरमं सौगतैः कृतं शासनं दर्शनं। कीदृशं तदित्याह सुखेनेत्यादिना— सुखेन कायक्लेशं विना सुखं पारलौकिकमाहाररूपमागते प्राप्यते न तपसा। किंविशिष्टैः कृतमदशमेन्द्रियैस्तथेऽपरे। किं तत्सकलसंस्कृतं। कथंभूतं, प्रतिक्षणविभंगुरं क्षणं क्षणं प्रति विभंगुरं विनश्वरं। अथ ननित्यादिना स्वमतादिविरोधं दर्शयति— स्वमतस्य लोकस्य लिङ्गं च तेषां परिनिश्चयात्तैर्व्याहतं विरुद्धं तत्र स्वमतपरिनिश्चयेन विरोधस्तावत् न तपसा सुखं प्राप्यत इति वचनः शिरोमुण्डनखट्वाग्रभोजनादि[illegible], तथा " मृद्वी [illegible] यत्र दूरे [illegible]। तावदेव तपसा तावत् तपो हि दुरितक्षयम् " इति लोकप्रसिद्ध्या च विरोधः, [illegible] विभंगुरमित्यत्र च सर्व[illegible] प्रत्यभिज्ञाप्रमाणस्यादि[illegible]लिङ्गपरिनिश्चयेन व्याघातः ॥ २३ ॥

[illegible] प्रत्यभिज्ञानात् [illegible] इत्याशङ्क्य निराकुर्वन्,—

न मन्त्रानिरतम्बरी न हि च सम्बरी ना त्रिधा
यथार्थिरवगाय [illegible] यत्र दृश्यते तत्त्वतः।
कुधीर कुलिशासिलगुलियमाहिकिया
कथनिरम्बरी यदि [illegible] ॥ २४ ॥

न [illegible] नादिना— [illegible]

[illegible]

विहाय न किंचिद्नं नगरं वा वास्तवं सौगतैरिष्टं । तथा क्षणिकक्षणान्विहाय न सन्ततिरपि भवतु तदभावः को दोष इत्याह वृथैवेत्यादिना—वृथैव निष्फलैव । केत्याह कृपीत्यादिना— कृपिश्च दानञ्च शीलं च मुनिवन्दना च ता आद्यो यासां ताश्च ताः क्रियाश्च । अथैतद्दोषभयात्कथंचिद्विनश्वरी सन्ततिरिष्यते तथा सर्वं क्षणिकमिति भवेत्प्रतिज्ञाक्षतिः ॥२४॥

अधुना मुक्ते केवली चिरञ्जीविमनुष्यत्वाद्भोगभूमिजवदित्यत्र हेतोरसिद्धतामुद्भावयन्नाह;—

अनन्यपुरुषोत्तमो मनुजतामतीतोऽपि स-
मनुष्य इति शस्यसे त्वमधुना नरैर्बालिशैः ।
क्व ते मनुजगर्भिता क्व च विरागसर्वज्ञता
न जन्ममरणात्मता हि तव विद्यते तत्त्वतः ॥ २५ ॥

अनन्येति—हे जिन ! त्वमनन्यपुरुषोत्तमः न विद्यन्तेऽन्ये पुरुषोत्तमा यस्मात् । पुनरपि कथम्भूतः, मनुजतामतीतोऽपि मनुष्यप्रकृतिरूपतामतीतोऽपि सन्नित्थंभूतोऽपि भगवन् । मनुष्य इति शस्यसे उच्यसेऽधुना नरैः । किंविशिष्टैर्बालिशैः । यदि च मनुष्यमात्रतुल्यता भगवत इष्यते तदा वीतरागताविरोध इत्याह केत्यादिना—क्व ते मनुजगर्भिता क्व च विरागसर्वज्ञता न खलु मनुजानां मनुष्यमात्राणां गर्भ इव गर्भो येषां तेषां वीतरागता सर्वज्ञता च दृष्टा, यदि मनुष्यमात्रतया तुल्यता भगवतः स्यात्तदा जन्मादिप्रसंगो, न च सोऽस्तीत्याह न जन्मेत्यादिना– जन्ममरणात्मता हि यस्मात्तव न विद्यते तत्त्वतः, जन्म हि कर्मदोषाद्भवति तस्य च जन्मन्येव तत्क्षयात्कथं तत्स्यात् तदभावान्मरणाभाव इति ॥ २५ ॥

ननु भगवतो जन्माभावे कथं स्वमातृगर्भादुत्पाद इत्याशङ्क्याह;—

स्वमातुरिह यद्यपि प्रभव इष्यते गर्भतो
मलैरनुपसंवृतो वरसरोजपत्रेऽम्बुवत् ।

प्रतिक्षणविभंगुरं सकलसंस्कृतं चेष्यते
नतु स्वमतलोकलिंगपरिनिश्चयैर्व्याहितम् ॥ २३ ॥

पृथग्जनेति—पृथग्जना रागादिमन्तस्तेषां मनोऽनुकूलं मनोज्ञमपरैः सौगतैः कृतं शासनं दर्शनं। कीदृशं तदित्याह सुखेनेत्यादिना— सुखेन कायक्लेशं विना सुखं पारलौकिकमाह्लादरूपमाप्यते प्राप्यते न तपसा। किंविशिष्टैस्तैः कृतमवश्येन्द्रियैस्तथेष्यते। किं तत्सकलसंस्कृतं। कथंभूतं, प्रतिक्षणविभंगुरं क्षणं क्षणं प्रति विभंगुरं विनश्वरं। अत्र नन्वित्यादिना स्वमतादिविरोधं दर्शयति— स्वमतश्च लोकश्च लिङ्गं च तेषां परिनिश्चयास्तैर्व्याहतं विरुद्धं तत्र स्वमतपरिनिश्चयेन विरोधस्तावत् न तपसा सुखं प्राप्यत इति यदतः शिरोमुण्डनब्रह्मचर्यादिव्रतधारणेनानर्थक्यप्रसङ्गात्, तथा " यद्दूरं यद्दुराराध्यं यच्च दूरे व्यवस्थितम्। तत्सर्वं तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम् " इति लोकप्रतीत्या च विरोधः, प्रत्यक्षे विभंगुरमित्यस्य च सर्वं कथञ्चिन्नित्यं प्रत्यभिज्ञायमानत्वादित्यादिलिङ्गपरिनिश्चयेन व्याघातः॥२३॥

सन्ताने प्रत्यभिज्ञानादेः प्रवृत्तेर्न तद्व्याघात इत्याशङ्कां निराकुर्वन्नाह;—

न सन्ततिरनश्वरी न हि च नश्वरी नो द्विधा
यनाद्विवस्माव एव यत इष्यते तत्त्वतः।
वृथैव कृपिदानशीलमुनिवन्दनादिक्रिया
कथञ्चिदविनश्वरी यदि भवेत्प्रतिज्ञाक्षतिः ॥ २४ ॥

न सन्ततिरित्यादिना— सा हि सन्ततिरक्षणिका क्षणिका उभयरूपा वा स्यादिति पक्षत्रयमप्ययुक्तमिति नेत्यादिना दर्शयति न सन्ततिः सन्तानोऽनश्वरी नित्या न हि च नश्वरी नो द्विधा कृत [illegible] न सम्भवति यनाद्विवस्मात्र एव यत इष्यते तत्त्वतः। यदि [illegible] नित्याऽनित्या चोभयरूपा वा स्यात्, न [illegible] सोऽभिधीयते [illegible] परमार्थतः मात्र एव सन्ततिर्विद्यत [illegible] यनाद्विशत्, यथैव हि वर्न [illegible], न हि [illegible] विशेषात् [illegible]

विहाय न किंचिद्नं नगरं वा वास्तवं सौगतैरिष्टं । तथा क्षणिकक्षणान्विहाय न सन्ततिरपि भवतु तदभावः को दोष इत्याह वृथैवेत्यादिना—वृथैव निष्फलैव । केत्याह कृपीत्यादिना— कृपिश्च दानञ्च शीलं च मुनिवन्दना च ता आद्यो यासां ताश्च ताः क्रियाश्च । अथैतद्दोषभयात्कथंचिद्विनश्वरी सन्ततिरिष्यते तथा सर्वं क्षणिकमिति भवेत्प्रतिज्ञाक्षतिः॥२४॥

अधुना भुंक्ते केवली चिरञ्जीविमनुष्यत्वाद्भोगभूमिजवदित्यत्र हेतोरसिद्धतामुद्भावयन्नाह;—

> अनन्यपुरुषोत्तमो मनुजतामतीतोऽपि स-
> मनुष्य इति शस्यसे त्वमधुना नरैर्बालिशैः।
> क्व ते मनुजगर्भिता क्व च विरागसर्वज्ञता
> न जन्ममरणात्मता हि तव विद्यते तत्त्वतः ॥ २५ ॥

अनन्येति—हे जिन! त्वमनन्यपुरुषोत्तमः न विद्यन्तेऽन्ये पुरुषोत्तमा यस्मात् । पुनरपि कथम्भूतः, मनुजतामतीतोऽपि मनुष्यप्रकृतिरूपतामतीतोऽपि सन्नित्थंभूतोऽपि भगवन्! मनुष्य इति शस्यस उच्यसेऽधुना नरैः। किंविशिष्टैर्बालिशैः । यदि च मनुष्यमात्रतुल्यता भगवत इष्यते तदा वीतरागताविरोध इत्याह केत्यादिना—क्व ते मनुजगर्भिता क्व च विरागसर्वज्ञता न खलु मनुजानां मनुष्यमात्राणां गर्भ इव गर्भो येषां तेषां वीतरागता सर्वज्ञता च दृष्टा, यदि मनुष्यमात्रतया तुल्यता भगवतः स्यात्तदा जन्मादिप्रसंगो, न च सोऽस्तीत्याह न जन्मेत्यादिना—जन्ममरणात्मता हि यस्मात्तव न विद्यते तत्त्वतः, जन्म हि कर्मदोषाद्भवति तस्य च जन्मन्येव तत्क्षयात्कथं तत्स्यात् तदभावान्मरणाभाव इति ॥ २५ ॥

ननु भगवतो जन्माभावे कथं स्वमातुगर्भादुत्पाद इत्याशङ्क्याह;—

> स्वमातुरिह यद्यपि प्रभव इष्यते गर्भतो
> मलैरनुपसंस्तुतो यरसरोजपत्रेऽम्बुवत् ।

प्रतिक्षणविभंगुरं सकलसंस्कृतं चेष्यते
ननु स्वमतलोकलिंगपरिनिश्चयैर्व्याहितम् ॥ २३ ॥

पृथग्जनेति—पृथग्जना रागादिमन्तस्तेषां मनोऽनुकूलं मनोज्ञमतैः सौगतैः कृतं शासनं दर्शनं। कीदृशं तदित्याह सुखेनेत्यादिना– सुखेन कायक्लेशं विना सुखं पारलौकिकमाह्लादरूपमाप्यते प्राप्यते न तपसा। किंविशिष्टैस्तैः कृतमवश्येन्द्रियैस्तथेष्यते। किं तत्सकलसंस्कृतं। कथंभूतं, प्रतिक्षणविभंगुरं क्षणं क्षणं प्रति विभंगुरं विनश्वरं। अत्र नन्वित्यादिना स्वमतादिविरोधं दर्शयति– स्वमतश्च लोकश्च लिङ्गं च तेषां परिनिश्चयात्तैर्व्याहतं विरुद्धं तत्र स्वमतपरिनिश्चयेन विरोधस्तावत् न तपसा सुखं प्राप्यत इति यतः शिरोमुण्डनब्रह्मचर्यादिव्रतधारणेनानर्थक्यप्रसङ्गात्, तथा "यद्दूरं यद्दुराराध्यं यच्च दूरे व्यवस्थितम्। तत्सर्वं तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम्" इति लोकवार्तया च विरोधः, प्रत्यक्षे विभंगुरमित्यस्य च सर्वं कथञ्चिन्नित्यं प्रत्यभिज्ञायमानत्वादित्यादिलिङ्गपरिनिश्चयेन व्याघातः ॥ २३ ॥

सन्ताने प्रत्यभिज्ञानादि प्रवर्तते तदव्याघात इत्याशङ्कां निराकुर्वन्नाह;—

न सन्ततिरनश्वरी न हि च नश्वरी नो द्विधा
घनादिवदभाव एव यत इष्यते सन्ततिः।
वृथैव कृपिदानशीलमुनिवन्दनादिक्रिया
कथञ्चिदविनश्वरी यदि भवेत्प्रतिज्ञाक्षतिः ॥ २४ ॥

न सन्ततिरित्यादिना– सा हि सन्ततिर्भवद्भिः [illegible] [illegible] वा स्यादिति पक्षत्रयमाशङ्क्य [illegible] नेत्यादिना दूषयति [illegible] न सन्ततिरनश्वरी नित्या न हि च नश्वरी नो द्विधा [illegible] [illegible] घनादिवदभाव एव यत इष्यते सन्ततिः [illegible] नित्यानित्या [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] यथा हि [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

विहाय न किंचिदूनं नगरं वा वास्तवं सौगतैरिष्टं । तथा क्षणिकक्षणा-
न्विहाय न सन्ततिरपि भवतु तदभावः को दोष इत्याह वृथैवेत्यादिना—
वृथैव निष्फलैव । केत्याह कृपीत्यादिना— कृपिश्च दानञ्च शीलं च मुनि-
वन्दना च ता आद्यो यासां ताश्च ताः क्रियाश्च । अथैतद्दोषभयात्कश्चि-
चिदविनश्वरी सन्ततिरिष्यते तथा सर्वं क्षणिकमिति भवन्मतिशास्त्रक्षतिः ॥९४॥

अधुना भुंक्ते केवली चिरजीविमनुष्यत्वाद्भोगभूमिजवदित्यत्र हेतोरसि-
द्धतामुद्भावयन्नाह;—

> अनन्यपुरुषोत्तमो मनुजतामतीतोऽपि स-
> मनुष्य इति हास्यसे त्वमधुना परैर्वालिशैः ।
> क्व ते मनुजगर्भिता क्व च विरागसर्वज्ञता
> न जन्ममरणात्मता हि तव विद्यते तत्त्वतः ॥ ९५ ॥

अनन्येति—हे जिन ! त्वमनन्यपुरुषोत्तमः न विद्यन्तेऽन्ये पुरुषोत्तमा
यस्मात् । पुनरपि कथंभूतः, मनुजतामतीतोऽपि मनुष्यप्रकृतिरूपतामती-
तोऽपि साक्षित्वंभूतोऽपि भगवन् ! मनुष्य इति हास्यसे उच्यसेऽधुना परैः ।
किंविशिष्टैर्बालिशैः । यदि च मनुष्यमात्रतुल्यता भगवत इष्यते तदा वीत-
रागताविरोध इत्याह क्वेत्यादिना—क्व ते मनुजगर्भिता क्व च विरागसर्वज्ञता
न खलु मनुजानां मनुष्यमात्राणां गर्भ इव गर्भो येषां तेषां वीतरागता
सर्वज्ञता च दृष्टा, यदि मनुष्यमात्रतया तुल्यता भगवत स्यात्तदाऽस्म-
दादिवद्रागी, न च सोऽस्तीत्याह न जन्मेत्यादिना— जन्ममरणात्मता हि
यस्मात्तव न विद्यते तत्त्वतः, जन्म हि कर्मदोषाद्भवति तस्य च जन्मन्येव
तत्क्षयात्कथं तत्त्वतः तदभावान्मरणाभाव इति ॥ ९५ ॥

ननु भगवतो जन्माभावे कथं स्वमातुरुदरोद्भव इत्याशङ्क्याह;—

> स्वमातुरिह यद्यपि प्रभव इष्यते गर्भतो
> मलैरनुपसंप्लुतो दरसरोजपर्यङ्कवत् ।

प्रतिक्षणविभंगुरं सकलसंस्कृतं चेष्यते
नन्‌ स्वमतलोकलिंगपरिनिश्चयैर्व्याहितम् ॥ २३ ॥

पृथग्जनेति—पृथग्जना रागादिमन्तस्तेषां मनोऽनुकूलं मनोज्ञमरं सौगतैः कृतं शासनं दर्शनं। कीदृशं तदित्याह सुखेनेत्यादिना– सुखेन कायक्लेशं विना सुखं पारलौकिकमाह्लादरूपमाप्यते प्राप्यते न तपसा। किंविशिष्टैस्तैः कृतमवश्येन्द्रियैस्तथेष्यते। किं तत्सकलसंस्कृतं। कथंभूतं, प्रतिक्षणविभंगुरं क्षणं क्षणं प्रति विभंगुरं विनश्वरं। अत्र नन्वित्यादिना स्वमतादिविरोधं दर्शयति– स्वमतश्च लोकश्च लिङ्गं च तेषां परिनिश्चयास्तैर्व्याहतं विरुद्धं तत्र स्वमतपरिनिश्चयेन विरोधस्तावत न तपसा सुखं प्राप्यत इति वदतः शिरोमुण्डनब्रह्मचर्यादिव्रतधारणेनानर्थक्यप्रसङ्गात्, तथा " यद्दूरं यद्दुराराध्यं यच्च दूरे व्यवस्थितम्। तत्सर्वं तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम् " इति लोकप्रतीत्या च विरोधः, प्रत्यक्षे विभंगुरमित्यस्य च सर्वं कथञ्चिन्नित्यं प्रत्यभिज्ञायमानत्वादित्यादिलिङ्गपरिनिश्चयेन व्याघातः॥ २३॥

सन्ताने प्रत्यभिज्ञानाद्वे प्रवृत्तेर्न तद्व्याघात इत्याशङ्कां निराकुर्वन्नाह;—

न सन्ततिरनश्वरी न हि च नश्वरी नो द्विधा
वनादिवदभाव एव यत इष्यते तत्त्वतः।
वृथैव कृपिदानशीलमुनिवन्दनादिक्रिया
कथञ्चिदविनश्वरी यदि भवेत्प्रतिज्ञाक्षतिः ॥ २४ ॥

न सन्ततिरित्यादिना– सा हि सन्ततिरक्षणिका क्षणिका उभयरूपा वा स्यादिति पक्षत्रयमप्ययुक्तमिति नेत्यादिना दर्शयति— न सन्तति सन्तानोऽनश्वरी नित्या न हि च नश्वरी नो द्विधा कुत इत्य सा न सम्भवति वनादिवदभाव एव यत इष्यते तत्त्वत । यदि हि सन्ततिरनुभूता स्यात्तदा नित्याऽनित्या चोभयरूपा वा स्यात्; न चासौ सम्भूता सौगतैरिष्यते यतस्तत्त्वतः परमार्थतोऽभाव एव सन्ततेरिष्यते किंवत् वनादिवत्; यथैव हि वनं नगरमित्यादिव्यवहार , न हि वृक्षविशेषान् गृहप्रासादविशेषांश्च

विहाय न किंचिदूनं नगरं वा वास्तवं सौगतैरिष्टं । तथा क्षणिकक्षणान्विहाय न सन्ततिरपि भवतु तदभावः को दोष इत्याह वृथैवेत्यादिना—वृथैव निष्फलैव । केत्याह कृपीत्यादिना– कृपिश्च दानश्च शीलं च मुनिवन्दना च ता आदयो यासां ताश्च ताः क्रियाश्च । अथैतद्दोषभयात्कथंचिदविनश्वरी सन्ततिरिष्यते तथा सर्वं क्षणिकमिति भवेत्प्रतिज्ञाक्षतिः॥२४॥

अधुना भुक्ते केवली चिरञ्जीविमनुष्यत्वाद्भोगभूमिजवदित्यत्र हेतोरसिद्धतामुद्भावयन्नाह;—

> अनन्यपुरुषोत्तमो मनुजतामतीतोऽपि स-
> मनुष्य इति शस्यसे त्वमधुना नरैर्बालिशैः।
> क्व ते मनुजगर्भिता क्व च विरागसर्वज्ञता
> न जन्ममरणात्मता हि तव विद्यते तत्त्वतः ॥ २५ ॥

अनन्येति—हे जिन! त्वमनन्यपुरुषोत्तमः न विद्यन्तेऽन्ये पुरुषोत्तमा यस्मात् । पुनरपि कथम्भूतः, मनुजतामतीतोऽपि मनुष्यप्रकृतिरूपतामतीतोऽपि सन्नित्थंभूतोऽपि भगवन् ! मनुष्य इति शस्यस उच्यसेऽधुना नरैः। किंविशिष्टैर्बालिशैः । यदि च मनुष्यमात्रतुल्यता भगवत इष्यते तदा वीतरागताविरोध इत्याह क्वेत्यादिना—*क्व ते मनुजगर्भिता क्व च विरागसर्वज्ञता* न खलु मनुजानां मनुष्यमात्राणां गर्भ इव गर्भो येषां तेषां वीतरागता सर्वज्ञता च दृष्टा, यदि मनुष्यमात्रतया तुल्यता भगवतः स्यात्तदा जन्मादिप्रसंगो, न च सोऽस्तीत्याह न जन्मेत्यादिना– जन्ममरणात्मता हि यस्मात्तव न विद्यते तत्त्वतः, जन्म हि कर्मशेषाद्भवति तस्य च जन्मन्येव तत्क्षयात्कथं तत्स्यात् तदभावान्मरणाभाव इति ॥ २५ ॥

ननु भगवतो जन्माभावे कथं स्वमातृगर्भादुत्पाद इत्याशङ्क्याह;—

> स्वमातुरिह यद्यपि प्रभव इष्यते गर्भतो
> मलैरनुपसंवृतो वरसरोजपत्रेऽम्बुवत् ।

प्रतिक्षणविभंगुरं सकलसंस्कृतं चेष्यते
नन्नु स्वमतलोकलिंगपरिनिश्चयैर्व्याहितम् ॥ २३ ॥

पृथग्जनेति—पृथग्जना रागादिमन्तस्तेषां मनोऽनुकूलं मनोज्ञमरैः सौगतैः कृतं शासनं दर्शनं। कीदृश तदित्याह सुखेनेत्यादिना—सुखेन कायक्लेशं विना सुखं पारलौकिकमाह्लादरूपमाप्यते प्राप्यते न तपसा। किंविशिष्टैस्तैः कृतमवश्येन्द्रियैस्तथेष्यते। किं तत्सकलसंस्कृतं। कथंभूतं, प्रतिक्षणविभंगुरं क्षणं क्षणं प्रति विभंगुरं विनश्वरं। अत्र नन्वित्यादिना स्वमतादिविरोधं दर्शयति—स्वमतञ्च लोकश्च लिङ्गं च तेषां परिनिश्चयास्तैर्व्याहतं विरुद्धं तत्र स्वमतपरिनिश्चयेन विरोधस्तावत् न तपसा सुखं प्राप्यत इति वदतः शिरोमुण्डनब्रह्मचर्यादिव्रतधारणेनानर्थक्यप्रसङ्गात्, तथा " यद्दूरं यद्दुराराध्यं यच्च दूरे व्यवस्थितम्। तत्सर्वं तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम् " इति लोकप्रतीत्या च विरोधः, प्रत्यक्षे विभंगुरमित्यस्य च सर्वं कथञ्चिन्नित्यं प्रत्यभिज्ञायमानत्वादित्यादिलिङ्गपरिनिश्चयेन व्याघातः॥२३॥

सन्ताने प्रत्यभिज्ञानाद् प्रवृत्तेर्न तद्व्याघात इत्याशङ्कां निराकुर्वन्नाह;—

न सन्ततिरनश्वरी न हि च नश्वरी नो द्विधा
वनादिवदभाव एव यत इष्यते तत्त्वतः।
वृथैव कृपिदानशीलमुनिवन्दनादिक्रिया
कथञ्चिदविनश्वरी यदि भवेत्प्रतिज्ञाक्षतिः ॥ २४ ॥

न सन्ततिरित्यादिना—सा हि सन्ततिरक्षणिका क्षणिका उभयरूपा वा स्यादिति पक्षत्रयमप्ययुक्तमिति नेत्यादिना दर्शयति—न सन्ततिः सन्तानोऽनश्वरी नित्या न हि च नश्वरी नो द्विधा कुत इत्य सा न सम्भवति वनादिवदभाव एव यत इष्यते तत्त्वत। यदि हि सन्तानोऽभ्युपगम्यते तदा नित्याऽनित्या चोभयरूपा वा स्यात, न चासौ अभ्युपगम्यते सौगतैरिष्यते यतस्तत्त्वतः परमार्थतोऽभाव एव सन्ततेरिष्यते किंवत् वनादिवत्; यथैव हि वनं नगरमित्यादिव्यवहार, न हि वृक्षविशेषात् गृहप्रासादविशेषाच्च

विहाय न किंचिदन्नं नगरं वा वास्तवं सौगतैरिष्टं । तथा क्षणिकक्षणान्विहाय न सन्ततिरपि भवतु तदभावः को दोष इत्याह वृथैवेत्यादिना— वृथैव निष्फलैव । केत्याह कृपीत्यादिना— कृपिश्च दानश्च शीलं च मुनिवन्दना च ता आद्यो यासां ताश्च ताः क्रियाश्च । अथैतद्दोषभयात्कथंचिदविनश्वरी सन्ततिरिष्यते तथा सर्वं क्षणिकमिति भवेत्प्रतिज्ञाक्षतिः॥२४॥

अधुना मुक्ते केवली चिरञ्जीविमनुष्यत्वाद्भोगभूमिजवदित्यत्र हेतोरसिद्धतामुद्भावयन्नाह;—

अनन्यपुरुषोत्तमो मनुजतामतीतोऽपि स-
मनुष्य इति शस्यसे त्वमधुना नरैर्बालिशैः ।
क्व ते मनुजगर्भिता क्व च विरागसर्वज्ञता
न जन्ममरणात्मता हि तव विद्यते तत्त्वतः ॥ २५ ॥

अनन्येति—हे जिन ! त्वमनन्यपुरुषोत्तमः न विद्यन्तेऽन्ये पुरुषोत्तमा यस्मात् । पुनरपि कथम्भूतः, मनुजतामतीतोऽपि मनुष्यप्रकृतिरूपतामतीतोऽपि सन्नित्थंभूतोऽपि भगवन् ! मनुष्य इति शस्यसे उच्यसेऽधुना नरैः । किंविशिष्टैर्बालिशैः । यदि च मनुष्यमात्रतुल्यता भगवत इष्यते तदा वीतरागताविरोध इत्याह क्वेत्यादिना—क्व ते मनुजगर्भिता क्व च विरागसर्वज्ञता न खलु मनुजानां मनुष्यमात्राणां गर्भ इव गर्भो येषां तेषां वीतरागता सर्वज्ञता च दृष्टा, यदि मनुष्यमात्रतया तुल्यता भगवतः स्यात्तदा जन्मादिप्रसंगो, न च सोऽस्तीत्याह न जन्मेत्यादिना— जन्ममरणात्मता हि यस्मात्तव न विद्यते तत्त्वतः, जन्म हि कर्मदोषाद्भवति तस्य च जन्मन्येव तत्क्षयात्कथं तत्स्यात् तदभावान्मरणाभाव इति ॥ २५ ॥

ननु भगवतो जन्माभावे कथं स्वमातृगर्भादुत्पाद इत्याशङ्क्याह;—

स्वमातुरिह यद्यपि प्रभव इष्यते गर्भतो
मलैरनुपसंवृतो वरसरोजपत्रेऽम्बुवत् ।

प्रतिक्षणविभंगुरं सकलसंस्कृतं चेष्यते
ननु स्वमतलोकलिंगपरिनिश्चयैर्व्याहितम् ॥ २३ ॥

पृथग्जनेति—पृथग्जना रागादिमन्तस्तेषां मनोऽनुकूलं मनोज्ञमस्तैः सौगतैः कृतं शासनं दर्शनं। कीदृशं तदित्याह सुखेनेत्यादिना— सुखेन कायक्लेशं विना सुखं पारलौकिकमाह्लादरूपमाप्यते प्राप्यते न तपसा। किंविशिष्टैस्तैः कृतमवश्येन्द्रियैस्तथेष्यते। किं तत्सकलसंस्कृतं। कथंभूतं, प्रतिक्षणविभंगुरं क्षणं क्षणं प्रति विभंगुरं विनश्वरं। अत्र नन्वित्यादिना स्वमतादिविरोधं दर्शयति— स्वमतञ्च लोकश्च लिङ्गं च तेषां परिनिश्चयास्तैर्व्याहतं विरुद्धं तत्र स्वमतपरिनिश्चयेन विरोधस्तावत् न तपसा सुखं प्राप्यत इति वदतः शिरोमुण्डनब्रह्मचर्यादिव्रतधारणेनानर्थस्यप्रसङ्गात्, तथा " यद्दूरं यद्दुराराध्यं यच्च दूरे व्यवस्थितम्। तत्सर्वं तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम् " इति लोकप्रतीत्या च विरोधः, प्रत्यक्षे विभंगुरमित्यस्य च सर्वं कथञ्चिन्नित्यं प्रत्यभिज्ञायमानत्वादित्यादिलिङ्गपरिनिश्चयेन व्याघातः॥२३॥

सन्ताने प्रत्यभिज्ञानादेः प्रवृत्तेर्न तद्व्याघात इत्याशङ्कां निराकुर्वन्नाह;—

न सन्ततिरनश्वरी न हि च नश्वरी नो द्विधा
यनादिवदभाव एव यत इष्यते तत्त्वतः।
वृथैव कृपिशानशीलमुनिवन्दनादिक्रिया
कथञ्चिदविनश्वरी यदि भवेत्प्रतिज्ञाक्षतिः ॥ २४ ॥

न सन्ततिरित्यादिना— सा हि सन्ततिरक्षणिका क्षणिका उभयरूपा वा स्यादिति पक्षत्रयमप्ययुक्तमिति नेत्यादिना दर्शयति— न सन्ततिः सन्तानोऽनश्वरी नित्या न हि च नश्वरी नो द्विधा कुत [illegible] सा न सम्भवति यनादिवदभाव एव यत इष्यते तत्त्वत । यदि हि [illegible] स्यान्नहि नित्याऽनित्या चोभयरूपा वा स्यात्, न [illegible] सौगतैरिष्यते यतस्तत्त्वतः परमार्थतोऽभाव एव सन्ततेरिष्यत [illegible] यथैव हि यर्न नास्तीत्यादिव्यवहार , न हि [illegible] विशेषात् [illegible]

विहाय न किंचिद्वर्न नगरं वा वास्तवं सौगतैरिष्टं । तथा क्षणिकक्षणान्विहाय न सन्ततिरपि भवतु तदभावः को दोष इत्याह वृथैवेत्यादिना—वृथैव निष्फलैव । केत्याह कृपीत्यादिना— कृपिश्च दानश्च शीलं च मुनिवन्दना च ता आद्यो यासां ताश्च ताः क्रियाश्च । अथैतद्दोषभयात्कथंचिद्विनश्वरी सन्ततिरिष्यते तथा सर्व क्षणिकमिति भवेत्प्रतिज्ञाक्षतिः॥२४॥

अधुना मुक्ते केवली चिरञ्जीविमनुष्यत्वाद्भोगभूमिजवदित्यत्र हेतोरसिद्धतामुद्भावयन्नाह;—

> अनन्यपुरुषोत्तमो मनुजतामतीतोऽपि स-
> मनुष्य इति हास्यसे त्वमधुना नरैर्वालिशैः।
> क्व ते मनुजगर्भिता क्व च विरागसर्वज्ञता
> न जन्ममरणात्मता हि तव विद्यते तत्त्वतः ॥ २५ ॥

अनन्येति—हे जिन ! त्वमनन्यपुरुषोत्तमः न विद्यन्तेऽन्ये पुरुषोत्तमा यस्मात् । पुनरपि कथम्भूतः, मनुजतामतीतोऽपि मनुष्यप्रकृतिरूपतामतीतोऽपि सन्नित्थंभूतोऽपि भगवन् ! मनुष्य इति हास्यस उच्यसेऽधुना नरैः । किंविशिष्टैर्वालिशैः । यदि च मनुष्यमात्रतुल्यता भगवत इष्यते तदा वीतरागताविरोध इत्याह क्वेत्यादिना—क्व ते मनुजगर्भिता क्व च विरागसर्वज्ञता न खलु मनुजानां मनुष्यमात्राणां गर्भ इव गर्भो येषां तेषां वीतरागता सर्वज्ञता च दृष्टा, यदि मनुष्यमात्रतया तुल्यता भगवतः स्यात्तदा जन्मादिप्रसंगो, न च सोऽस्तीत्याह न जन्मेत्यादिना— जन्ममरणात्मता हि यस्मात्तव न विद्यते तत्त्वतः, जन्म हि कर्मदोषाद्भवति तस्य च जन्मन्येव तत्क्षयात्कथं तत्स्यात् तदभावान्मरणाभाव इति ॥ २५ ॥

ननु भगवतो जन्माभावे कथं स्वमातृगर्भाद्भुत्पाद इत्याशङ्क्याह;—

> स्वमातुरिह यद्यपि प्रभव इष्यते गर्भतो
> मलैरनुपसंवृतो वरसरोजपत्रेऽम्बुवत् ।

मतिक्षणविभंगुरं सकलसंस्कृतं चेष्यते
 ननु स्वमतलोकलिंगपरिनिश्चयैर्व्याहितम् ॥ २३ ॥

पृथग्जनेति—पृथग्जना रागादिमन्तस्तेषां मनोऽनुकूलं मनोज्ञमपरैः सौगतैः कृतं शासनं दर्शनं। कीदृश तदित्याह सुखेनेत्यादिना— सुखेन कायक्लेशं विना सुखं पारलौकिकमाह्लादरूपमाप्यते प्राप्यते न तपसा। किंविशिष्टैस्तैः कृतमवश्येन्द्रियैस्तथेष्यते। किं तत्सकलसंस्कृतं। कथंभूतं, प्रतिक्षणविभंगुरं क्षणं क्षणं प्रति विभंगुरं विनश्वरं। अत्र नन्वित्यादिना स्वमतादिविरोधं दर्शयति— स्वमतञ्च लोकश्च लिङ्गं च तेषां परिनिश्चयास्तैर्व्याहतं विरुद्धं तत्र स्वमतपरिनिश्चयेन विरोधस्तावत् न तपसा सुखं प्राप्यत इति वदतः शिरोमुण्डनब्रह्मचर्यादिव्रतधारणेनानर्थक्यप्रसङ्गात्, तथा " यद्दूरं यद्दुराराध्यं यच्च दूरे व्यवस्थितम्। तत्सर्वं तपसा साध्यं तपो हिं दुरतिक्रमम् " इति लोकप्रतीत्या च विरोधः, प्रत्यक्षे विभगुरमित्यस्य च सर्वं कथंचिन्नित्यं प्रत्यभिज्ञायमानत्वादित्यादिलिङ्गपरिनिश्चयेन व्याघातः॥२३॥

सन्ताने प्रत्यभिज्ञानादेः प्रवृत्तेर्न तद्व्याघात इत्याशङ्कां निराकुर्वन्नाह;—

न सन्ततिरनश्वरी न हि च नश्वरी नो द्विधा
 वनादिवद्भाव एव मत इष्यते तत्त्वतः।
मृषैव कृपितज्ञानशीलमुनिवन्दनादिक्रिया
 कथञ्चिदविनश्वरी यदि भवेत्प्रतिज्ञाक्षतिः ॥ २४ ॥

न सन्ततिरित्यादिना— सा हि सन्ततिरक्षणिका क्षणिका उभयरूपा वा स्यादिति पक्षत्रयमप्ययुक्तमिति नेत्यादिना दर्शयति— न सन्तति सन्तानोऽनश्वरी नित्या न हि च नश्वरी नो द्विधा कुत इत्य सा न सम्भवति वनादिवद्भाव एव मत इष्यते तत्त्वत । यदि हि [illegible] स्यात्तदा नित्याऽनित्या चोभयरूपा वा स्यात्, न चा सौ [illegible] सौगतैरिष्यते तत्त्वतः परमार्थतोऽभाव एव सन्ततेरिष्यते किंवत् वनादिवत्, यथैव हि वनं नगरमित्यादिव्यवहारः, न हि वृक्षविशेषात् गृहसमाजविशेषाच्च

विहाय न किंचिद्वनं नगरं वा वास्तवं सौगतैरिष्टं । तथा क्षणिकक्षणान्विहाय न सन्ततिरपि भवतु तदभावः को दोष इत्याह वृथैवेत्यादिना—वृथैव निष्फलैव । केत्याह कृपीत्यादिना– कृपिश्च दानञ्च शीलं च मुनिवन्दना च ता आद्यो यासां ताश्च ताः क्रियाश्च । अथैतद्दोषभयात्कथंचिदविनश्वरी सन्ततिरिष्यते तथा सर्वं क्षणिकमिति भवेत्प्रतिज्ञाक्षतिः॥२४॥

अधुना मुंक्ते केवली चिरञ्जीविमनुष्यत्वाद्भोगभूमिजवदित्यत्र हेतोरसिद्धतामुद्भावयन्नाह;—

> अनन्यपुरुषोत्तमो मनुजतामतीतोऽपि स-
> मनुष्य इति शस्यसे त्वमधुना नरैर्बालिशैः ।
> क्क ते मनुजगर्भिता क्क च विरागसर्वज्ञता
> न जन्ममरणात्मता हि तव विद्यते तत्त्वतः ॥ २५ ॥

अनन्येति—हे जिन! त्वमनन्यपुरुषोत्तमः न विद्यन्तेऽन्ये पुरुषोत्तमा यस्मात् । पुनरपि कथम्भूतः, मनुजतामतीतोऽपि मनुष्यप्रकृतिरूपतामतीतोऽपि सन्नित्थंभूतोऽपि भगवन् । मनुष्य इति शस्यस उच्यसेऽधुना नरैः । किंविशिष्टैर्बालिशैः । यदि च मनुष्यमात्रतुल्यता भगवत इष्यते तदा वीतरागताविरोध इत्याह केत्यादिना—क्क ते मनुजगर्भिता क्क च विरागसर्वज्ञता न खलु मनुजानां मनुष्यमात्राणां गर्भ इव गर्भो येषां तेषां वीतरागता सर्वज्ञता च दृष्टा, यदि मनुष्यमात्रतया तुल्यता भगवतः स्यात्तदा जन्मादिप्रसंगो, न च सोऽस्तीत्याह न जन्मेत्यादिना– जन्ममरणात्मता हि यस्मात्तव न विद्यते तत्त्वतः, जन्म हि कर्मोदयाद्भवति तस्य च जन्मन्येव तत्क्षयात्कथं तस्यात् तदभावान्मरणाभाव इति ॥ २५ ॥

ननु भगवतो जन्माभावे कथं स्वमातृगर्भोदुत्पाद इत्याशङ्क्याह;—

> स्वमातुरिह यद्यपि प्रभव इष्यते गर्भतो
> मलैरनुपसंश्रुतो वरसरोजपत्रेम्बुवत् ।